समस्त समस्याओं का समाधान

अध्यात्म



- श्रीराम शर्मा आचार्य

समस्त समस्याओं का समाधान—अध्यात्म



लेखक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००



पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : १२.०० रुपये

विषय-सूची

१. उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का एक मात्र आधार—अध्यात्म	३
२. व्यक्तिपरक संदर्भ	१२
३. समाजपरक संदर्भ	४३

समाज में फैली हानिकारक बुराईयों को दूर करने के लिए कानून, अदालत, पुलिस, जेल आदि के अनेकों उपाय किये जा रहे हैं, पर हालत दिन पर दिन बिगड़ती ही चली जा रही है। इसलिए अब आवश्यकता है मार्ग को बदलने की। इसके लिए हमको अपनी भावनाओं, मान्यताओं, आस्थाओं का सुधार करना होगा। केवल मस्तिष्कीय तर्कों के बजाय अंतःकरण की आवाज पर भी ध्यान देना होगा। जब हम स्वार्थ और परमार्थ, भोग और त्याग में समन्वय रखकर गतिविधियाँ अपनाने लगेंगे, तभी मौजूद विपत्तियों से छुटकारा मिल सकेगा। वही अध्यात्मवादी मार्ग होगा।

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का एकमात्र आधार—अध्यात्म

बुद्धिवादियों का एक वर्ग बहुत समय से यह कहता आया है कि सभी प्रकार की विपत्तियाँ आर्थिक कठिनाइयों के कारण उत्पन्न होती हैं। यदि आर्थिक सुविधा हो—संपन्नता बढ़े तो फिर न तो किसी को पिछड़ा रहना पड़ेगा और न चोरी-बेईमानी अपनानी पड़ेगी। इस वर्ग के लोग उत्पादन बढ़ाने और खर्च में किफायत करने पर उतना जोर नहीं देते, जितना सम-वितरण पर। उनका कहना है कि जिनके पास पैसा है, उनसे लेकर सबको बाँट दिया जाय तो अमीरी बँट जायेगी। सब लोग संपत्तिवान बन जायेंगे, फलतः अन्य समस्याओं के साथ नैतिक समस्याओं का भी समाधान हो जायेगा। इस वर्ग के लोग अपने को साम्यवादी कहते हैं।

दूसरा वर्ग शिक्षा की कमी को पिछड़ेपन का कारण मानता है। वह शिक्षा की वृद्धि के साथ-साथ नैतिकता सहित राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान का स्वप्न देखता है। तीसरा वर्ग शासन-पद्धति के संबंध में यह कहता है कि राज्य के हाथ में असीम शक्ति होती है, वह कठोर दंड व्यवस्था के सहारे अपराधी तत्त्वों को रोक सकता है। राष्ट्रीय संपत्ति का मनमाना उपयोग करके वह समृद्धि और प्रगति का द्वार खोल सकता है। कई व्यक्ति देशों, वर्गों की संकीर्णता को पारस्परिक विग्रह का कारण मानते हैं और एकता के लिए इन सभी विभेदों को मिटाकर विश्व-राज्य, विश्व-धर्म, विश्व-परिवार का सृजन होने पर सुख-शांति के मार्ग की कठिनाइयाँ दूर होने की बात सोचते हैं।

समस्याओं के सामयिक कारण व्यक्तियों की भूलें अथवा दुष्टताएँ होती हैं। परिस्थितियाँ भी कई प्रकार की विपन्नता उत्पन्न करती हैं। मूर्धन्य व्यक्ति प्रस्तुत साधनों के सहारे उनके हल भी

निकालते रहते हैं। टूट-फूट की मरम्मत और विकृतियों की काट-छाँट चलती रहती है, पर चिरस्थायी समाधान का मार्ग नहीं मिलता। हजामत बनाते-बनाते नये बालों की उपज जिस प्रकार उत्पन्न हो जाती है, उसी तरह उलझनें नये या पुराने रूप में फिर उठ खड़ी होती है। शांति एक सुखद सपना भर बनी रहती है। उसके लिए आशा-अपेक्षा तो की जाती रहती है पर वैसी स्थिति बनती नहीं, जिसमें व्यक्ति को सुरक्षा और समाज को सुव्यवस्था की स्थिति में रहते हुए देखा जा सके।

समाधान के उपयुक्त सुझावों में से सभी आंशिक रूप से ही सही हैं। उन सभी प्रतिपादनों के कार्यान्वित होने से मनुष्य जाति के सामने प्रस्तुत कठिनाइयों में से कितनों का ही एक सीमा तक समाधान निकल सकता है; पर वह होगा आंशिक और सामयिक ही, क्योंकि उसमें उन भौतिक कारणों का ही निराकरण सुझाया गया है—जो प्रत्यक्षतः बहुत-सी विपत्तियों और उलझनों के कारण प्रतीत होते हैं। यह फुंसियों पर मरहम लगाने की तरह है। मोटी बुद्धि से फुंसी अपने आप ही अपना कष्ट-कारण है, जबकि बात कुछ और ही होती है। रक्त-विकार से फुंसियाँ उठती है। रक्त-विकार के कारणों में पेट में जमी विषाक्तता बहुत बड़ा कारण होती है। यदि जुलाब दे दिया जाय, रक्त-शोधक उपचार किये जाएँ तो फुंसियाँ अपने आप सूखने लगती हैं। तब बहिरंग उपचार से अथवा सामान्य मरहम से भी वे अच्छी हो जाती हैं। उसके विपरीत यदि रक्त-विकृति बनी रहे तो मरहम लगाते रहने पर भी, वे बहुत दिनों में अच्छी होती हैं और एक के अच्छे होते दूसरी नई उठ खड़ी होती हैं। फुंसियों का निराकरण स्थायी रूप से करना हो तो उस मूल कारण तक जाना होगा, जहाँ से अनेक प्रकार के रोग उठते और रूप बदल-बदलकर सामने आते रहते हैं। दाद, खाज, छाजन, चेचक, गठिया, सूजन, जकड़न आदि में प्रधानतया रक्त विकार ही निमित्त होता है। यद्यपि इन सब रोगों के लक्षण-स्वरूप और कष्ट-अनुभव भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। उपचार इनका अलग-अलग भी हो सकता है, पर पूरी तरह निवृत्ति प्राप्त करनी हो

तो रक्त-शोधन के लिए प्रयत्न करना होगा और उस उद्‌गम को सुधारना होगा, जहाँ उसकी जड़ जमी हुई होती है।

मनुष्य की मूल सत्ता 'चेतना' है। इस चेतना की उद्‌गम आस्थाएँ, मान्यताएँ, इच्छाएँ होती हैं। इन्हीं से व्यक्तित्व का स्वरूप बनता है। व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर उसे आस्थाओं और अभिरुचियों के आधार पर बना हुआ पाया जायेगा। मान्यताएँ ही इच्छाएँ उत्पन्न करती हैं। इच्छा की पूर्ति का आदेश मस्तिष्क को मिलता है, तो वह वफादार नौकर की तरह अभीष्ट वस्तु या परिस्थिति प्राप्त करने के लिए ताना-बाना बुनने लगता है। शरीर की हलचलें मस्तिष्क के निर्देश पर गतिशील होती हैं। मोटी दृष्टि से तो शारीरिक कृत्यों को ही देखा जा सकता है। चमड़े की आँखें तो घटनाओं, हलचलों, पदार्थों और प्राणियों को ही देखती हैं, इसलिए वे कार्यों को ही महत्त्व देती हैं। उन्हीं के आधार पर निंदा और प्रशंसा होती है। दंड और पुरस्कार उन्हीं के आधार पर मिलते हैं। लौकिक दृष्टि से यही संभव है और यही उचित भी है।

परंतु यदि थोड़ी गहराई से देखा जाय, तो वस्तुस्थिति दूसरी ही मिलेगी। विचारों की शक्ति अत्यंत प्रचंड है। वही मनुष्य को किसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है। निर्णय निर्धारित वहीं होते हैं। क्या करना है ? क्या नहीं करना है ? इसका फैसला करना पूरी तरह से मस्तिष्क के हाथ में है। शरीर के अन्य किसी अवयव का उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होता। पंचतत्त्वों से बनी काया तो मात्र उस निर्देश का परिपालन करती है, जो मस्तिष्क द्वारा दिया जाता है। शरीर एक उपकरण मात्र है, कुछ करते हुए तो उसे ही देखा जाता है, पर वस्तुतः वह जड़ तत्त्वों का बना होने से कुछ सोचने में सर्वथा असमर्थ होता है। उसे अपने मालिक की आज्ञानुसार ही चलना पड़ता है।

मूर्ति गढ़ने में छैनी-हथौड़े की हलचल दृष्टिगोचर होती है, हाथ उन्हें चलाते हैं। किंतु मूर्तिकार के अतिरिक्त किसी अन्य अनाड़ी व्यक्ति के हाथों में वे छैनी-हथौड़ा थमा दिये जाएँ और मूर्ति गढ़ने को कहा जाय तो वह हर्गिज नहीं गढ़ सकेगा, क्योंकि उसका

मस्तिष्क मूर्तिकला से प्रशिक्षित नहीं होता। लेखन-कार्य कलम-कागज की सहायता से चलता है, पर किसी अनपढ़ के हाथ में इन उपकरणों को थमा देने से, कुछ भी लिखा नहीं जा सकेगा। प्रेरणाएँ मस्तिष्क से मिलती हैं। शरीर के अवयव स्वामिभक्त सेवक की तरह उसका परिपालन करते हैं। इसलिए यदि गंभीरता से देखा जाय और सत्कर्मों तथा दुष्कर्मों का कारण तलाश किया जाय तो शरीर को या उसके किसी अंग को उसका निमित्त मानने के स्थान पर मस्तिष्क को उसकी निंदा-प्रशंसा का पात्र माना जाना चाहिए। विचारों में ही वह शक्ति है, जो व्यक्तित्व का स्वरूप निर्धारण करती है, उसके उत्थान-पतन की दिशा देती है। गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर ही मनुष्य की विशेषता का निर्माण होता है, उसी स्तर की हलचल गतिविधियाँ होती हैं और उसी आधार पर दूसरों का सहयोग-असहयोग, सम्मान-तिरस्कार मिलता है। इन्हीं सबको मिलाकर पिछड़ेपन या प्रगतिशीलता की स्थिति बनती है। उत्थान और पतन का वास्तविक आधार इस मानसिक स्थिति को—चिंतन की दिशाधारा को, मन, बुद्धि एवं चित्त के त्रिवर्ग को दिया जा सकता है। मनःस्थिति ही परिस्थिति के रूप में प्रकट-परिणत होती है, व्यक्ति वैसा ही बनता है जैसा कि सोचता है।

समस्याएँ और कठिनाइयाँ अपने आप आसमान से नहीं टपकती हैं। वे मनुष्यों की गतिविधियों से उत्पन्न होती हैं। यह गतिविधियाँ—हलचलें हाथ-पैरों की ही दिखाई पड़ती हैं, उनमें मस्तिष्क की स्थिति और प्रेरणा का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं भी होता, तो भी उसके लिए वही पूरी तरह से उत्तरदायी होता है। विषम परिस्थितियों को सुधारने के लिए अवांछनीय हलचलों को रोका जाना चाहिए, पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह रोकथाम केवल शारीरिक प्रतिबंधों से संभव नहीं! रोकने का तरीका जो भी अपनाया जाय यदि मस्तिष्क ने उसे स्वीकार नहीं किया, तो फिर कोई दूसरा ढंग निकाल लिया जायेगा और पहले ही जैसी अवांछनीयता, उससे ही मिलती-जुलती हरकतें होने लगेंगी। मनुष्य

की चतुरता सर्वविदित है। वह बाह्य प्रतिबंधों को तोड़ने के लिए किसी न किसी प्रकार का रास्ता खोज ही लेता है।

कानून हर बुरे काम के विरुद्ध बने हुए हैं और उन्हें करने वाले अपराधियों के लिए जेल, पुलिस, कचहरी का पूरा प्रबंध है। जांच-पड़ताल के लिए इन्सपेक्टरों की, गुप्तचरों की सरकारी मशीनरी काम करती है, उस मशीनरी को रोकथाम के साधन भी दिये जाते हैं और उस पर खर्च भी बहुत होता है। इतने पर भी हर अपराध का पूरी तरह बोलबाला बना रहता है। पकड़ में तो दस प्रतिशत भी नहीं आते। जो पकड़े जाते हैं, उनमें से तीन चौथाई तिकड़म-तरकीब से छूट जाते हैं। जिनको दंड मिलता है उनकी संख्या समस्त अपराधियों में से एक प्रतिशत भी नहीं होती। फिर दंड पाने के बाद वे और भी अधिक निर्लज्ज हो जाते हैं। जेल जाकर तो वहाँ अन्य साथियों से पूरा प्रशिक्षण पाकर लौटते हैं और सुधरने की बजाय अपने फन में पूरे माहिर दीखते हैं। ऐसे लोग नौसिखिये न रहकर पूरे उस्ताद बन जाते हैं। यहाँ जेल, पुलिस को न तो व्यर्थ बताया जा रहा है और न उसका उपहास किया जा रहा है। कहना इतना ही है कि संसार में असंख्य प्रकार की विपत्तियाँ उत्पन्न करने के लिए जो दुष्प्रवृत्तियाँ मूल कारण हैं, उन्हें मिटाने के लिए, हलचलें रोकने के लिए प्रतिबंधात्मक कार्यवाहियाँ पर्याप्त नहीं हैं। मुख्यतः मनुष्य का चिंतन परिमार्जित किया जाना चाहिए, दृष्टिकोण इस प्रकार बदला जाना चाहिए, जिससे उसको नीतिमत्ता के लाभ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगें। मनुष्य निजी विवेक के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उसका गौरव एवं लाभ नीतिमत्ता अपनाने में है। दुष्प्रवृत्तियों को अपनाने से जो दुष्परिणाम उसे भुगतने पड़ेंगे, उनका कल्पना चित्र यदि सही रूप में सामने हो तो फिर उसके फैसले नीति समर्थक होंगे। इस तरह स्वेच्छा से छोड़ी हुई दुष्प्रवृत्तियाँ ही छूटती हैं। मन उन्हें पकड़े रहे तो जड़ जमी रहेगी और वह बाढ़ का पानी इस रास्ते फूटता रहेगा। मजबूत काल-कोठरियों से सुरंगें लगाकर दिन-रात पहरा देने वाले संतरियों की आँखों में धूल झोंककर, हथकड़ी, बेड़ियों सहित जेल तोड़कर

कई डाकू चतुरता के सहारे भाग निकलते हैं। साधारण कानूनी प्रतिबंधों के साथ आँख-मिचौनी तो सारे जीवन भर खेलते रहते हैं। यदि हाथ में सत्ता और डराने की शक्ति हो तब तो स्थिति और भी गंभीर हो जाती है। तब फिर नीति-नियमों को पालन कराने वाली मर्यादा एवं प्रतिरोध की क्षमता और भी अधिक कुंठित हो जाती है।

जितना प्रयास दुष्प्रवृत्तियों की रोकथाम के लिए प्रतिबंधों एवं निरीक्षण के द्वारा किया जाता है, उससे कई गुना प्रबंध विचारों का स्तर एवं प्रवाह परिष्कृत करने के लिए किया जाना चाहिए। यदि वैसा हो सके तो फिर हर व्यक्ति स्वयं अपना पहरेदार, निरीक्षक, मजिस्ट्रेट, जेलर आदि बन जायेगा। स्वयं ही अपना मार्गदर्शक, पुरोहित, धर्मोपदेशक रहेगा और किसी से अपनी चौकीदारी कराने के स्थान पर उलटा दूसरों की चौकीदारी करने लगेगा। यदि चिंतन का स्तर ऊँचा उठाया जा सके—दृष्टिकोण में उत्कृष्टता का समावेश संभव हो सके तो निश्चित रूप से क्रियाकलाप में सज्जनता और शालीनता की ही झलक मिलेगी। उस स्थिति में आदर्शवादी, मानवीय गरिमा को बढ़ाने वाले सराहनीय और अनुकरणीय आचरण ही बन पड़ेंगे। जिसका चिंतन ऊँचा है, वह निकृष्ट गतिविधियाँ अपना ही नहीं सकता। पतन की दिशा में उसके पैर बढ़ेंगे ही नहीं। शारीरिक सुविधा-संवर्धन की तुलना में मनःस्तर को सुसंस्कृत और नीतिवान बनाया जाना अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुविधा-संवर्धन आकाश-पाताल जितना क्यों न कर लिया जाय, पर आंतरिक दुर्बुद्धि बनी रहे, हेय-लिप्साओं का ही मनःक्षेत्र पर आधिपत्य बना रहे, तो फिर रावण, कंस, हिरण्यकश्यपु, भस्मासुर, वृत्तासुर, दुर्योधन आदि के समतुल्य वैभव प्राप्त कर लेने पर भी अपने लिए और दूसरों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियाँ ही उत्पन्न की जाती रहेंगी।

यहाँ एक और बात समझने योग्य है कि मस्तिष्क भी अपने आप में स्वतंत्र नहीं है। शरीर पर जिस प्रकार मन का आधिपत्य है; ठीक उसी प्रकार मन की कठपुतली को नचाने वाला मदारी अंतःकरण है। लड़के हाथ में डोरी थामे रहते हैं और उनके इशारों

पर पतंग आसमान में तैरती, उछलती-कूदती दिखाई पड़ती है। ठीक इसी प्रकार मस्तिष्क को अंतःकरण के निर्देश मिलते हैं और वह कुशल वकील की तरह अपने मुवक्किल के लाभ में तरह-तरह की तरकीब ढूँढ़ना, सामग्री इकट्ठी करना और साधन बनाना आरंभ कर देता है। अंतःकरण से तात्पर्य है भावना क्षेत्र—इसी में मान्यताएँ, आस्थाएँ और आकांक्षाएँ विनिर्मित होती हैं। विचार तो तर्कों, तथ्यों, प्रमाणों और उदाहरणों के सहारे आसानी से बदले जा सकते हैं। भय और लोभ के दबाव से भी विचार बदले जा सकते हैं। पर आस्थाओं की बात दूसरी है। उनकी जड़ें बहुत गहरी होती हैं और वे विवशता में चुप ही रहने पर भी बदलती नहीं है। भीतर ही भीतर अपना काम करती रहती हैं और अवसर आते ही फिर उछल पड़ती है। किसी की आंतरिक आस्था नीति-नियमों पर वास्तव में न हो, तो बाहर से वह धर्मोपदेशक का काम करते रहने पर भी भीतर ही भीतर पूर्ण नास्तिक जैसा बना रहेगा और गुप्त रूप से अनेकों छल-छंद रचकर अपने अनैतिक स्वार्थों को पूरा करता रहेगा। ऐसी दशा में मस्तिष्क उसका पूरा-पूरा सहयोग देगा। कुटिलता भरे कुचक्र रचने और छलपूर्ण दुष्कर्म करते रहने की सुविस्तृत भूमिका बनाकर खड़ी कर देगा।

ऐसा प्रायः होता भी रहता है। लोग देशभक्ति की, लोकहित की समाज कल्याण की दुहाई देते रहते हैं। दूसरों को लंबे-चौड़े उपदेश देते हैं, किंतु स्वयं उस कथन के सर्वथा विपरीत आचरण करते हैं। जिन तर्कों से दूसरों को प्रभावित करते हैं, उनका स्वयं के ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता। इसका कारण आस्था-क्षेत्र में अनीति अपनाने से लाभ मिलने की मान्यता का गहराई तक जमें रहना ही होता है। इसके विपरीत ऐसे असंख्य मनुष्य पाये जाते हैं, जो शारीरिक सुविधाओं, संपदाओं और मानवीय प्रसन्नताओं के समस्त अवसरों को लात मारकर उच्चस्तरीय आदर्शों की रक्षा करते हैं। घोर कष्ट सहते, हानि उठाते और प्राण तक गँवाते हैं। शरीर सुख और मानसिक स्वार्थ अत्यंत स्पष्ट होते हुए भी वे उसका परित्याग करके स्वेच्छापूर्वक विपत्ति उठाते और तपस्वी जीवन बिताते हैं।

यह सब आस्थाओं का ही चमत्कार है। आदर्शवादियों, ऐतिहासिक-महामानवों, ऋषियों, युग-पुरुषों और देवात्माओं का अंतःकरण ही प्रबल होता है। वे शरीर, मन और परिवार की, लोभ और मोह की, अभाव और कष्ट की परवाह न करते हुए अपनी महान गतिविधियों में संलग्न रहते हैं। प्रलोभन के तर्क उनको तनिक भी प्रभावित नहीं करते; तथाकथित चतुरता, बुद्धिमत्ता उनके गले तनिक भी नहीं उतरती। वे कष्टसाध्य परिस्थितियों में रहते हुए वैभव, संपत्ति की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी और संतुष्ट पाए जाते हैं। उनके चेहरे पर हर स्थिति में संतुलन भरी मुस्कान नाचती रहती है। यह आस्थाओं की उत्कृष्टता का चमत्कार है।

आस्थाएँ व्यक्तित्व के अत्यंत गहरे मर्मस्थल में जमी होती हैं। चेतना की इसी भूमिका को अंतःकरण कहते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह अचेतन की अति गहरी परत है। तर्क मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं। अंतःकरण उनसे अप्रभावित रहता है। इस क्षेत्र को कुरेदने, सुधारने, बदलने, उठाने के लिए कुछ अधिक ऊँचे स्तर की—आस्था वर्ग की विचार-प्रक्रिया ही काम करती है। इस स्तर का चिंतन अध्यात्म कहलाता है। इसके लिए सामान्य ज्ञान पर्याप्त नहीं होता। उसके लिए तत्त्वज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार की दार्शनिकता को ब्रह्मविद्या का नाम दिया जाता रहा है। आत्म-विज्ञान का, अध्यात्म का यही कार्यक्षेत्र है।

स्तर के अनुरूप मस्तिष्कीय कल्पना को, मन और तथ्य को ध्यान में रखकर निर्णय करने वाली क्षमता को बुद्धि कहते हैं। आदतों का जमघट चित्त कहलाता है। उसमें पुराने ढर्रे पर लुढ़कते चलने का आग्रह बना रहता है। इस सबसे ऊपर है "अहं तत्त्व"। इसको अंग्रेजी में 'ईगो' कहते हैं। आत्म-विज्ञान में इसे अंतःकरण या अंतरात्मा कहा जा सकता है। इसमें चिंतन, तत्त्वदर्शन एवं आत्म-दर्शन स्तर की बातें ही प्रवेश कर पाती हैं, जो उपयुक्त निर्णय इस क्षेत्र में हो सकते हैं, उस दूरदर्शी विवेकशीलता को 'ऋतंभरा प्रज्ञा' कहते हैं। आस्थाओं का परिमार्जन, परिष्कार करने वाले तत्त्वज्ञान को योग और उलट-पुलट

करने वाले समर्थ क्रिया-कलाप को—प्रचंड उपचार को तप कहते हैं। योग को सिद्धांत और तप को व्यवहार कह सकते हैं। दोनों को मिलाकर समग्र अध्यात्म-विज्ञान बनता है।

अध्यात्म को मोटी दृष्टि-उपेक्षणीय और महत्त्वहीन मानती रही है। यह उसकी भारी भूल है। यह वह चाबी है, जिसके सहारे मानवी-सत्ता की घड़ी के सब कलपुर्जे घूमते हैं। आस्थाओं के अनुरूप मस्तिष्क काम करता है—मस्तिष्क के निर्देश पर शरीर चलता है। शरीर की हरकतें परिस्थितियाँ उत्पन्न करतीं हैं। यह परिस्थितियाँ ही सुविधाएँ और विपत्तियाँ बनकर सामने आती हैं। तथ्यों को समझा जा सके तो इस निर्णय पर पहुँचना होगा कि उलझी परिस्थितियाँ सुधारने के लिए मनुष्यों की गतिविधियाँ सज्जनोचित होनी चाहिए। यह तब संभव है, जब विचार पद्धति का परिष्कार—दृष्टिकोण का उत्कर्ष किया जाय। यह कार्य विचारों से विचारों की काट करने से भी एक सीमा तक पूरा होता है, पर समग्र समाधान आस्थाओं में उत्कृष्टता के तत्त्व भर देने से ही चिरस्थायी हो सकता है। उथले स्तर के सुधार सामयिक ही सिद्ध होते हैं और तनिक-सा अवसर मिलते ही पुरानी दुष्टता फिर अपना परिचय देने लगती है।

अंतःकरण का स्तर ऊँचा उठाने वाला विज्ञान 'अध्यात्म' है। प्राचीन काल में उसी के सहारे इस देश के नागरिक 'देव' संज्ञा में पहुँच गये थे, और उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र को स्वर्गोपम बनाया था। अब हमें फिर उसी प्रकार के उज्ज्वल भविष्य की आकांक्षा उठी है। फिर से उन्हीं महान परंपराओं का अनुकरण करना होगा, जिनके आधार पर हमारे महान पूर्वज स्वयं शांति से रहते और समुन्नत बनते थे। साथ ही अपने अनुभवों से समस्त संसार को सुसंपन्न और सुसंस्कृत बनाने में महान योगदान देते थे। आज की विपत्तियों और समस्याओं का चिरस्थायी समाधान अध्यात्म—विज्ञान को अपनाने में ही है। उसी के सहारे उज्ज्वल भविष्य के—स्वर्णिम सतयुग के अवतरण का उद्देश्य पूरा हो सकता है।



व्यक्तिपरक संदर्भ

आज का व्यक्ति समस्याओं के जाल में दिन-दिन जकड़ता चला जा रहा है। क्या धनी, क्या निर्धन, क्या विद्वान, क्या अशिक्षित, क्या रुग्ण तथा स्वस्थ सभी स्तर के मनुष्य अपने को अभावग्रस्त और संकटग्रस्त स्थिति में पाते हैं। भूखे का पेट दर्द—दूसरी तरह का और अतिभोजी का दूसरे ढंग का; पर कष्ट पीड़ित तो दोनों ही समान रूप से हैं।

भौतिक दृष्टि से विज्ञान ने मनुष्य के लिए अगणित प्रकार की प्रचुर साधन-सुविधाएँ उपलब्ध करा दी हैं। अब से कुछ शताब्दियों-पूर्व लोग कहीं लंबी यात्रा पर निकलते थे, तो यह मानकर चलते थे कि पता नहीं अब लौटकर परिवार वालों को देख भी सकेंगे या नहीं। इसलिए वे यात्रा पर निकलते समय परिवार की व्यवस्था इस प्रकार बनाकर चलते थे, मानो अब उनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। पर अब तो मनुष्य कुछ ही दिनों में चंद्रमा की यात्रा करके भी सकुशल वापस लौट आने में समर्थ है। कहने का आशय यह कि प्राचीनकाल की तुलना में आज साधन-सुविधाओं में आकाश-पाताल जितना अंतर हो गया है। इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

साधनों के विकास और सुविधाओं के अंबार लग जाने पर यह होना चाहिए कि मनुष्य सुखी रहता। लेकिन देखते हैं, मनुष्य पहले की तुलना में और भी ज्यादा दुःखी और संकटग्रस्त हो गया है। उसके चारों ओर समस्याओं का जाल जकड़ता जा रहा है। सभी कोटि के मनुष्य अपने को अभावग्रस्त और संकटग्रस्त स्थिति में अनुभव करते हैं। व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन और संसार के सभी क्षेत्रों में समस्याएँ ही समस्याएँ बिखरी पड़ी हैं। विभिन्न वर्ग के—विभिन्न स्तर के व्यक्तियों की समस्याएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। वे एक-दूसरे से किसी रूप में संबद्ध भी नहीं लगतीं, पर उनके

मूल में यदि देखा जाय तो एक ही कारण प्रतीत होगा वह है—अनात्मवादी दृष्टिकोण।

प्रकाश की अनुपस्थिति का नाम ही अंधकार है। जब प्रकाश बुझ जाता है तो अंधकार आ जाता है और जब प्रकाश फैलने लगता है तो अंधकार भाग जाता है। इन दिनों साधन-सुविधाओं की दृष्टि से पर्याप्त प्रगति हुई है, पर जिस आधार पर सुख-शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत किया जा सकता है, उस दृष्टिकोण का अभाव ही समस्याओं का कारण बना हुआ है। अंधकार को दूर भगाने के लिए कितने ही साधन जुटाए जाएँ, कितनी ही तैयारियाँ की जाएँ, जब तक प्रकाश फैलाने का प्रयास न किया जाय, तब तक अंधकार बना ही रहेगा। कितने ही साधन इकट्ठे कर लिए जाएँ, कितनी ही सुविधाएँ बढ़ा ली जाएँ, पर अनात्मवादी दृष्टिकोण को निरस्त करने के लिए जब तक अध्यात्म की ज्योति नहीं जगाई जायेगी, तब तक वे प्रयास व्यर्थ ही होते चले जायेंगे।

कठिनाइयों एवं समस्याओं के सामयिक एवं छुट-पुट उपचार तो अनेक ढंग से निकल आते हैं, किंतु टिकाऊ हल अध्यात्म के सहारे से ही निकल सकता है। सड़ी कीचड़ में रेंगने वाले कीड़े उपजते हैं और गंदगी के ढेर में मक्खी की उत्पत्ति होती है। हर कीड़े और मच्छर को मारने के लिए लाठी लिए फिरना बेकार है; मार देने पर भी वे उपज पड़ेंगे। आधार बना रहेगा तो उत्पत्ति का क्रम रुकेगा नहीं, इन कृमि-कीटकों से छुटकारे का एक ही उपाय है कि कीचड़ और गंदगी को साफ कर दिया जाय।

परमात्मा ने अपने पुत्रों को इस विश्व उद्यान में बहुत कुछ पाने कमाने के लिए भेजा है। समस्याएँ उसकी भूलों से सचेत करने वाली लालबत्ती की तरह हैं। यदि हम मनुष्योचित दृष्टिकोण अपनाएँ और शालीनता का जीवन जियें, तो अवरोधों से जूझकर शक्ति नष्ट करने की समस्या न रहेगी और तब प्रगति पथ पर अनवरत गति से बढ़ते हुए पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करना ही अपने सामने एकमात्र कार्य रह जायेगा। आइये, विचार करें कि हमारे व्यक्तिगत जीवन में

आये दिन कौन-कौन समस्याएँ त्रास देती हैं ? वे क्यों उत्पन्न होती हैं, और उनका स्थिर समाधान क्या हो सकता है ?

मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की सारी समस्याएँ इन पाँच वर्गों के अंतर्गत आ जाती हैं। (१) शारीरिक (२) मानसिक (३) आर्थिक (४) पारिवारिक तथा (५) आत्मिक।

स्वास्थ्य समस्या—

सर्वप्रथम समस्या स्वास्थ्य संकट की है। हममें से अधिकांश को शारीरिक दुर्बलता घेरे रहती है और बीमारियों का दौर चढ़ा रहता है। विचारणीय है कि ऐसा क्यों होता है ? सृष्टि में असंख्य प्राणी हैं। वे जन्मते-मरते तो हैं, पर कोई बीमार नहीं पड़ता। मनुष्य और उसके शिकंजे में कसे हुए थोड़े-से पालतू पशुओं को छोड़कर, स्वच्छ निर्वाह करने वाले जीव-जंतुओं में से किसी को दुर्बलता या रुग्णता की व्यथा नहीं सहनी पड़ती। बुढ़ापे और मृत्यु से सामना तो सबको पड़ता है, पर जब तक जीता है तब तक समूचा प्राणी-जगत निरोग ही जीता है। अकेले मनुष्य पर दुर्बलता और रुग्णता की घटाएँ छाई रहती हैं। इस अपवाद का कारण एक ही है—उसका आहार-विहार संबंधी असंयम, प्रकृति के निर्देशों का धृष्टतापूर्वक उल्लंघन।

जीभ का चटोरापन—

स्वाद के नाम पर अभक्ष्य पदार्थों को समय-कुसमय अनावश्यक मात्रा में उदरस्थ करते रहने से, पेट की क्षमता नष्ट होती है और वह बेचारा अत्याचार पीड़ित दीन-दुर्बल की तरह अपना काम निपटाने में असमर्थ हो जाता है। पेट की अपच हजार बीमारियाँ उत्पन्न करती हैं, यह तथ्य सर्वविदित है। लुकमान सही कहते थे कि, "मनुष्य अपने असमय मरने और गड़ने के लिए अपनी कब्र आप खोदता है।" इंद्रिय असंयम से वह अपने शक्ति भंडार को होली की तरह जलाता है और बर्फ की तरह अपने पौरुष को गलाकर समाप्त करता है। अस्त-व्यस्त दिनचर्या, आलस्य, प्रमाद, गंदगी जैसे दुर्गुण अपनाने वाले, प्रकृति की

प्रेरणाओं और नियत मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाले नियति की दंड व्यवस्था से बच नहीं सकते। उन्हें रुग्णता की व्यथा सहनी ही पड़ेगी।

इसका निवारण दवादारू की जादूगरी से नहीं हो सकता। यदि असंयमी जीवन जीने पर भी दवादारू के सहारे स्वास्थ्य रक्षा संभव रही होती, तो अमीरों ने और चिकित्सकों ने अब तक हाथी जैसा स्वास्थ्य संजो लिया होता। प्रकृति की अवज्ञा करने वाले उद्दंड अपराधी क्षम्य नहीं होते और आये दिन रुग्णता से कराहते हैं। रोगी का उपचार करने के लिए औषधि के साथ-साथ परहेज रखना भी आवश्यक होता है, आरंभ से वह जब बहुत ही रुग्ण हो तो परिचारक या घर के अन्य सदस्य उसके खान-पान पर नियंत्रण रख सकते हैं। लेकिन जरा स्वस्थ होते ही, उसे वह नियंत्रण स्वयं ही करना होता है। स्वादलिप्सा और चटोरापन के कारण—यदि यह जरा-सी भी बदपरहेजी असावधानी या असंयम कर दे, तो रोग पुनः अपने भीषण रूप में खड़ा हो सकता है; अर्थात् न केवल स्वस्थ रहने के लिए वरन् रोग से मुक्त होने के लिये भी संयम का सहारा लेना पड़ता है। अपना भला-बुरा आप सोचना पड़ता है। यह विवेक अध्यात्म का ही अंग है। यदि हमें सचमुच ही स्वास्थ्य की स्थिरता अपेक्षित हो, तो उसका एकमात्र उपाय प्राकृतिक जीवन है। आहार-विहार का संयम कड़ाई से पालन करने के अतिरिक्त और किसी उपाय से स्वास्थ्य रक्षा की समस्या हल नहीं हो सकती।

कहना न होगा कि इंद्रिय-लिप्साओं से छुटकारा पाना, सुव्यवस्थित जीवनक्रम अपनाना, शारीरिक क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली अध्यात्म प्रक्रिया ही है। आत्मसंयम और आत्मानुशासन का नाम ही अध्यात्म है। उसका प्रयोग यदि विवेकशीलता और दूरदर्शिता अपनाते हुए स्वास्थ्य प्रयोजन के लिए किया जाता रहे, तो हममें से किसी को भी न तो दुर्बलता घेरेगी और न रुग्णता छाई रहेगी। अब से हजार वर्ष बाद जब भी स्वास्थ्य संकट से निपटना आवश्यक प्रतीत होगा और उसका स्थिर समाधान खोजा जाएगा, तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि जीवनचर्या का निर्धारण अध्यात्मवादी

दृष्टिकोण से किया जाये और शारीरिक संपदा का उपयोग करने में प्रकृति के निर्देशों का पालन करने के लिए, कड़ाई के साथ संयम बरता जाय। जिस दिन यह तथ्य हृदयंगम कर लिया जायेगा, उसे व्यावहारिक जीवन में उतार लिया जायेगा, उस दिन स्वास्थ्य संकट का अंधकार कहीं भी दृष्टिगोचर न होगा।

मानसिक उद्विग्नता—

स्वास्थ्य समस्या के समान ही मानसिक उद्विग्नता भी मनुष्य जीवन की दूसरी बड़ी समस्या है। शांत, संतुष्ट, संतुलित और प्रसन्न रहने वाले व्यक्ति बिरले ही दिखाई देते हैं। अधिकांश व्यक्तियों के माथे पर त्यौरियाँ चढ़ी होती हैं, आँखों में बुझापन, चेहरे पर अवसाद, वाणी में निराशा, मस्तिष्क में अस्थिरता और हृदय में अशांति के बादल घटाटोप छाये रहते हैं। निराशा, क्षोभ, असंतोष तथा क्लांति की छाया मन-मस्तिष्क में अंधकार फैलाए रहती है, और उस उल्लास का दर्शन कहीं भी नहीं होता, जो परमात्मा के ज्येष्ठपुत्र और सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी के नाते दिखाई देना चाहिए। मानसिक अशांति के लिए दूसरों के व्यवहार और परिस्थितियों को भी सर्वथा निर्दोष तो नहीं कहा जा सकता, पर यह स्वीकार करना ही होगा कि इसमें बहुत बड़ा कारण अपने चिंतन तंत्र की दुर्बलता ही रहती है। हम अपनी ही इच्छा की पूर्ति चाहते हैं, हर किसी को अपने ही शासन में चलाना चाहते हैं और हर परिस्थिति को अपनी मर्जी के अनुरूप चलने की अपेक्षा करते हैं। यह भूल जाते हैं कि यह संसार हमारे लिए ही नहीं बना है, इसमें व्यक्तियों का विकास अपने क्रम से हो रहा है और परिस्थितियाँ अपने प्रवाह से बह रही हैं। हमें उनके साथ तालमेल बिठाने की कुशलता प्राप्त करनी चाहिए।

कहा जा सकता है कि हम प्रसन्न और प्रफुल्लित रहने के लिए तो बहुत प्रयत्न करते हैं। दुःख और उदासी को कौन पसंद करता है ? और जान-बूझकर कौन चिंतित होना चाहेगा ? लेकिन परिस्थितियाँ ही ऐसी बन जाती हैं कि हमें चिंता और व्यथा होने

लगती है। दूसरे लोग हमें खुश देखना पसंद करते नहीं, इसलिए वे हमारे सामने तरह-तरह की समस्याएँ खड़ी कर देते हैं। बात ठीक भी लगती है और मनुष्य को परिस्थितियों तथा दूसरों के व्यवहार से एक सीमा तक प्रभावित भी होना पड़ता है। लेकिन सबसे बड़ा कारण हमारी चिंतन शैली का त्रुटिपूर्ण होना ही है। इन तथ्यों को समझने के लिये कुछ उदाहरण लेना उचित रहेगा। पहले परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होने वाले असंतोष को ही लें। अपनी तुलना यदि अपने से अच्छी स्थिति वालों के साथ की जाये, तो स्थिति गरीबों जैसी प्रतीत होगी ही और चित्त भी दुःखी बना रहेगा। यदि अपने से निम्न स्थिति वाले से तुलना की जाये, तो अपनी स्थिति दूसरे कितने ही व्यक्तियों से अच्छी दिखाई देगी। वस्तुतः गरीबी और अमीरी सापेक्ष शब्द हैं। अधिक संपन्न व्यक्ति की तुलना में प्रत्येक व्यक्ति गरीब ठहरेगा और अधिक गरीब की तुलना में प्रत्येक व्यक्ति अपने को संपन्न अनुभव करेगा। यदि अपने दृष्टिकोण को इस सिद्धांत के अनुसार ढाल दिया जाये, तो परिस्थितियों के कारण होने वाले असंतोष और घुटन से बचा जा सकता है।

मानसिक शांति दुःखद परिस्थितियों में भी बनाये रखना संभव है। सुखों की अपनी उपयोगिता है। साधन-संपन्नता के सहारे प्रगति क्रम से सुविधा होती है, यह सर्वविदित है; पर यह भी भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि कठिनाइयों की आग में पककर ही खरा और सुदृढ़ बना जाता है। सोने को अग्निपरीक्षा में और हीरे को खराद पर चढ़ने में कठिनाई का सामना तो करना पड़ता है, पर उसका मूल्यांकन उससे कम में हो भी तो नहीं सकता। कठिनाइयों के कारण मनुष्य में धैर्य, साहस, कौशल, पराक्रम जैसे कितने ही सद्गुण विकसित होते हैं, जागरूकता बढ़ती है और बहुमूल्य अनुभव एकत्रित होते हैं। अभावों और संकटों में दुर्बल मनःस्थिति के लोग तो टूट जाते हैं, पर जिनमें जीवन है वे चौगुनी-सौगुनी शक्ति के साथ उभरते देखे गये हैं। संपन्नता की अपनी उपयोगिता है, विपन्नता का अपना महत्त्व है। यदि दोनों का समुचित लाभ उठाया जा सके, तो यह उभयपक्षीय अनुदान प्रगति के पथ पर

अग्रसर करने के लिए अपने-अपने ढंग से सहायता करते दिखाई पड़ेंगे।

नमक और मीठा परस्पर विरोधी हैं, तो भी उनसे स्वाद संतुलन बनता है। तानों और बानों के धागे एक-दूसरे से विपरीत दिशा में चलते हैं, पर उनका गुंथन उपयोगी वस्त्र बनकर सामने आता है। रात्रि और दिन की स्थिति में भिन्नता ही नहीं विपरीतता भी है, पर उनके समन्वय से ही समय चक्र घूमता है। विपरीतताओं और अनुकूलताओं का समन्वय ही संसार है। जीवन श्रृंखला इन विचित्रताओं की कड़ियों से मिलकर बनी है। हमें दोनों की उपयोगिता समझनी चाहिए।

पुण्यात्माओं से बहुत कुछ सीखा जाता है और पापियों को सुधार की नीति अपनाकर, आत्म परिष्कार करते हुए अपनी करुणा, सहृदयता, सेवा भावना को विकसित होने का अवसर मिल सकता है। दुरंगी दुनिया की विचित्रता से खिन्न होने की अपेक्षा, यह अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण है कि उसके सहारे खट्टे-मीठे अनुभव प्राप्त किये जाएँ, और इन परस्पर विरोधी परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के लाभ लिये जाएँ। जिनका चिंतन आध्यात्मिक स्तर का होगा, वे समुद्र में आने वाले ज्वार-भाटे से भी भयभीत न होंगे, वरन् इतना भर सोचेंगे कि किस स्थिति का किस प्रकार सामना किया जाये और उससे क्या लाभ उठाया जाये ?

मानसिक संतुलन बना रहे तो घाटा, शोक, विरोध, अभाव जैसी विपन्नता भी विचलित न कर सकेगी। क्रांतिकारी—शहीदों ने फाँसी के तख्ते हँसते हुए चूमे थे। बढ़े-चढ़े त्याग बलिदान प्रस्तुत करने वाले महामानवों के चेहरे पर विषाद की एक लहर उत्पन्न नहीं होती। यदि घटनाओं में ही सारी शक्ति रही होती तो वे सभी पर एक जैसा असर डालतीं। पर देखा जाता है कि उसी स्थिति में एक व्यक्ति सिर धुनता है और दूसरा बिना किसी हैरानी के काम करता है। यह मानसिक स्तर का ही परिचय है।

संसार में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं, जिसे सब सुख हो, किसी बात का अभाव न हो। सारी परिस्थितियाँ मनोनुकूल ही हों, कोई कष्ट न हो, कभी असफलता न मिले, कोई जिसका विरोधी न हो, ऐसा मनुष्य इस पृथ्वी पर ढूँढ़े न मिलेगा। जहाँ अनेक सुख-साधन मनुष्य को भगवान ने दिये हैं, वहाँ कुछ थोड़े अभाव भी रखे हैं। विवेकशील व्यक्ति जीवन में उपलब्ध सुख-सुविधाओं का अधिक चिंतन करते हैं, और उन उपलब्धियों पर संतोष प्रकट करते हुए प्रसन्न रहते हैं, और उस कृपा के लिए ईश्वर को धन्यवाद देते रहते हैं। थोड़े-से अभाव एवं कष्ट उन्हें वैसे ही कौतूहलवर्धक लगते हैं, जैसे माता अपने सुंदर बालक के माथे पर काजल की बिंदी लगाकर "डिठोना" बना देती है कि कहीं इसे 'नजर' न लग जाय।

इसके विपरीत अनेकों लोग उपलब्ध अनेकों सुख-साधनों को तुच्छ मानते हैं और जो थोड़े-से कष्ट एवं अभाव हैं, उन्हें ही पर्वत तुल्य मानकर अपने आपको भारी विपत्तिग्रस्त अनुभव करते हैं। ऐसे लोग निरंतर असंतुष्ट रहते हैं, अपने सभी संबंधित लोगों पर दोषारोपण करते हैं। ईश्वर को गाली देते हैं कि, उन्होंने हमें अमुक अभाव क्यों दिया ? भाग्य को कोसते हैं कि, वह इतना दुर्भाग्यपूर्ण क्यों है ? माता-पिता और अभिभावकों को बुरा कहते हैं कि, उन्होंने अमुक साधन नहीं जुटाये, जिससे हम उन्नतिशील स्थिति में होते ? मित्रों और अफसरों को कोसते हैं कि, उन्होंने उन्नति के लिये असाधारण सहयोग देकर बड़ा क्यों नहीं बना दिया ? परिस्थिति, ग्रहदशा, दुनिया की बेवफाई, कलियुग का जमाना आदि—जो भी उनकी समझ में आता है, उसे बुरा-भला कहते हैं और कठिनाइयों का दोष उनके मत्थे मढ़ते रहते हैं।

ऐसे लोगों की अधिकांश मानसिक शक्ति इसी रोने-खीजने में ही चली जाती है। उनके बहुमूल्य समय का बहुत-सा भाग इस कोसते रहने की प्रक्रिया में ही नष्ट हो जाता है। जिस समय का उपयोग वे अपनी कठिनाइयों को पार करने का उपाय सोचने और प्रयत्न करने में कर सकते थे, उसको वे अपनी खिन्नता बनाये रखने और बढ़ाने में करते हैं। यह तरीका अपने समय और बल

को नष्ट करने का ही है, इसमें लाभ कुछ नहीं, उलटे उन कीमती शक्तियों के नष्ट होने की हानि ही है; जिन्हें यदि बर्बाद होने से बचा लिया गया होता, तो वे कठिनाई का एक बहुत बड़ा भाग आसानी से हल कर देतीं।

जीवन को शांतिपूर्ण रीति से व्यतीत करने का तरीका यह है, कि हम अपनी कठिनाइयों का मूल्य बढ़ा-चढ़ाकर न आँकें, वरन् उतना ही समझें, जितना कि वे वास्तव में हैं, तो हमारी अनेकों दुश्चिंताएँ आसानी से नष्ट हो सकती है।

एक विद्यार्थी परीक्षा में अनुत्तीर्ण होता है। फेल होने के समाचार से उसका मानसिक संतुलन डगमगा जाता है। वह इस असफलता को वज्रपात जैसा मानता है, सोचता है कि, सारी दुनिया मुझे धिक्कारेगी, मूर्ख या आलसी समझेगी, मित्रों के सामने मेरी सारी प्रतिष्ठा धूल में मिल जायेगी, अभिभावक कटु शब्द कहकर मेरा तिरस्कार करेंगे। यह कल्पना उसे असह्य लगती है, चित्त में भारी क्षोभ उत्पन्न होता है और रेल के आगे कटकर, नदी में कूदकर या और किसी प्रकार वह अपनी आत्महत्या कर लेता है। घर में कुहराम मच जाता है, वृद्ध माता-पिता रो-रोकर अंधे हो जाते हैं, एक उल्लासपूर्ण हँसते-खेलते घर का वातावरण शोक, क्षोभ और निराशा में परिणत हो जाता है। इस विपन्न स्थिति को उत्पन्न करने में सारा दोष उस गलत दृष्टिकोण का है, जिसके अनुसार एक छोटी-सी असफलता का मूल्यांकन इतना बढ़ा-चढ़ाकर आँका गया।

एक दूसरा विद्यार्थी भी उसी कक्षा में अनुत्तीर्ण होता है। उसे भी दुःख तो होता है, पर वस्तुस्थिति का सही मूल्यांकन कर लेता है और सोचता है कि इस वर्ष बोर्ड का परीक्षाफल ४३ प्रतिशत ही तो रहा है। मेरे समान अनुत्तीर्ण होने वाले छात्रों की संख्या ५७ प्रतिशत है, वर्तमान परिस्थितियों में अनुत्तीर्ण होना एक साधारण-सी बात है, इसमें सदा विद्यार्थी ही दोषी नहीं होता, वरन् प्रायः शिक्षकों की उदासीनता, बिना पढ़े हुए विषयों के पर्चे आ जाना और नंबर देने वालों की लापरवाही भी उसका कारण होती है। इस वर्ष अनुत्तीर्ण हो गये तो अगले वर्ष अधिक परिश्रम करने

से अच्छे डिवीजन में उत्तीर्ण होने की आशा रहेगी, आदि बातों से अपने मन को समझा लेता है और अनुत्तीर्ण होने की खिन्नता को जल्दी ही अपने मन से हटाकर आगे के कार्यक्रम में लग जाता है।

दोनों ही छात्र एक ही समय एक ही कक्षा में अनुत्तीर्ण हुए थे। एक ने आत्महत्या कर ली, दूसरे ने उस बात को मामूली मानकर अपना साधारण क्रम जारी रखा। फेर केवल समझ का था, परिस्थिति का नहीं। यदि परिस्थिति का होता, तो दोनों को समान दुःख होना चाहिए था और दोनों को आत्महत्या करनी चाहिए थी। पर ऐसा होता नहीं, इससे स्पष्ट है कि परिस्थितियों के मूल्यांकन में गड़बड़ी होने से मानसिक संतुलन बिगड़ा और उसी से दुर्घटना घटित हुई।

हमें चाहिए कि अपनी कठिनाइयों को बढ़ा-चढ़ा कर न देखें, वरन् उनकी दूसरे अधिक आपत्तिग्रस्त लोगों के साथ तुलना करके अपने आपको अपेक्षाकृत कम दुःखी अनुभव करें। आपको आर्थिक कठिनाई रहती है, सभ्य सोसायटी के लोगों जैसा जीवनयापन करने में आर्थिक स्थिति कुछ दुर्बल मालूम पड़ती है। थोड़ा आर्थिक अभाव अनुभव होता है और चिंता रहती है। इस स्थिति से छुटकारा प्राप्त करने के कई उपाय हो सकते हैं। एक यह कि कुछ अधिक उपार्जन करने का प्रयत्न किया जाए। वर्तमान समय में जितना श्रम, समय और मनोयोग व्यवसाय में लगाया जाता है, उससे अधिक लगाया जाये कोई और सहायक धंधा ढूँढ़ा जाये या वर्तमान व्यवसाय में ही जो आय बढ़ाने के उपाय संभव हों, उन्हें दौड़-धूप करके जुटाया जाये। दूसरा तरीका यह हो सकता है कि, अपने खर्चे कम किये जाएँ। दुनिया में सभी तरह के गरीब-अमीर लोग रहते हैं, अपनी-अपनी आमदनी के अनुसार जीवनयापन करने की योजना बनाते हैं। यदि अपनी आमदनी कम है, तो क्यों न कम खर्च का बजट बनाकर काम चलाया जाय ? खर्चा घटा लेने से कुछ सुविधाएँ कम हो सकती हैं, पर उस कमी का दुःख उतना न होगा, जितना बढ़े हुए खर्च की पूर्ति न होने पर दिन-रात चिंतित रहने के कारण होता है।

यदि दोनों प्रकार के प्रयत्न करते हुए भी समस्या हल नहीं होती, तो किसी प्रकार काम चलाऊ रास्ता निकालकर उसी में प्रसन्न और संतुष्ट रहने की कोशिश करनी चाहिए। अपने से अधिक दु:खी लोगों के साथ अपनी तुलना करने से मनुष्य यह अनुभव कर सकता है कि कुछ कष्ट होते हुए भी भगवान की उस पर बड़ी कृपा है, कि उसने उतना दु:खी नहीं बनाया जितने अन्य लोग दु:खी हैं। अस्पतालों में पड़े हुए बीमार, अंग-भंग, साधनविहीन, संकट-जंजालों में फँसे हुए, पारिवारिक उलझनों में बुरी तरह उलझे हुए अनेकों व्यक्ति इस संसार में बहुत ही दयनीय स्थिति में जीवनयापन करते हैं। उनसे अपनी तुलना की जाय, तो प्रतीत होगा कि उनकी अपेक्षा अपनी स्थिति हजार गुनी अच्छी है। यदि पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों से अपनी तुलना की जाय, तब तो निश्चय ही यह प्रतीत होगा कि अपने को प्राप्त सुविधाएँ इतनी अधिक हैं कि इन थोड़ी-सी कठिनाइयों को नगण्य ही माना जा सकता है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अभी हमें बुरे और अपने शत्रु प्रतीत होते हैं, उनके कुछ अपकारों की बात सोचना छोड़कर यदि उनके उपकारों को, उनके द्वारा किए हुए सद्व्यवहार को स्मरण करें तो निश्चय ही वे हमें शत्रु नहीं मित्र दिखाई पड़ेंगे। पिता-माता ने हमें एम० ए० तक नहीं पढ़ाया, यदि वे उतनी शिक्षा दिला देते तो आज हम ऊँची सर्विस प्राप्त करते, यह विचार मन में आने पर माता-पिता शत्रु जैसे प्रतीत होते हैं; उनके प्रति अपना द्वेष एवं दुर्भाव उत्पन्न होता है। पर यदि हम अपनी विचारधारा बदल दें और जिन आर्थिक कठिनाइयों में रहते हुए, उतने बड़े कुटुंब का पालन करते हुए, हमारा पालन-पोषण किया एवं जितनी संभव थी उतनी शिक्षा की व्यवस्था की उसका चिंतन करें; तो उनके उपकारों के प्रति मन श्रद्धा से झुक जायेगा और वे मित्र ही नहीं देवता के समान उपकारी प्रतीत होंगे।

दृष्टिकोण में थोड़ा अंतर कर देने से हम असंतुष्ट और खिन्न जीवन को संतोष में परिणत कर सकते हैं। ईश्वर ने सुर-दुर्लभ मानव-तन प्रदान करके इतनी बहुमूल्य संपदा हमें प्रदान की है कि

उसका मूल्य लाखों-करोड़ों रुपयों में भी नहीं कूता जा सकता। जैसा शरीर, कुल, सम्मान, विद्या, परिवार आदि अपने को प्राप्त हैं, उसमें से प्रत्येक की विशेषता और सुविधा का चिंतन करें—साथ ही यह भी सोचें कि यदि यह बातें उपलब्ध न होतीं, तो उनके अभाव में अपना जीवन कितना नीरस होता—तो इस चिंतन से हमें प्रतीत होगा कि हमारी वर्तमान परिस्थिति दुःख-दारिद्र से भरी नहीं सुख-सुविधाओं से संपन्न हैं।

परिस्थितियों के अतिरिक्त हमारी मानसिक अशांति का एक कारण यह भी है कि हमें अच्छे व्यक्तियों का अभाव दिखाई देता है। यह भी चिंतन-दोष की ही फलश्रुति है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व अच्छाइयों और बुराइयों दोनों से मिलकर बना हुआ है। किसी में बुराइयाँ ही हों, ऐसा भी नहीं है और यह भी नहीं है कि किसी व्यक्ति में समस्त अच्छाइयाँ हों। हर व्यक्ति में अच्छाइयाँ भी हैं और बुराइयाँ भी हैं। अपनी दृष्टि जिस पक्ष पर जाती है, वही पक्ष हमें दिखाई देने लगता है और अपनी पसंद के अनुसार हम अच्छाइयाँ या बुराइयाँ खोज लेते हैं। यदि बुराइयाँ ही ढूँढ़ी जाएँ तो वे भगवान में भी मिल जायेंगी और अच्छाई देखनी हो तो सिंह सरीखे हिंसक पशु में भी उनका अभाव न दिखेगा। दूसरे व्यक्ति इसलिए दुष्ट और घृणित लगते हैं कि उनमें दोष ही दोष देखे गए हैं। अपने प्रिय स्वजन अच्छाइयाँ देखते रहने के कारण प्राणप्रिय लगने लगते हैं। यहाँ तक कि उनकी बुराइयाँ भी अच्छी दिखाई देने लगती हैं। अतएव दोष-दर्शन, छिद्रान्वेषण की आदत छोड़कर गुण-दर्शन की वृत्ति विकसित कर ली जाय तो कल तक जो व्यक्ति शत्रुवत् लगते थे, वही मित्रवत् लगने लग जायेंगे।

जो लोग अपने आपको बड़ी कठिनाइयों और शत्रुओं के बीच में घिरे हुए देखते हैं, वस्तुतः उनकी विचार और भावना की शक्ति प्रतिगामी होती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य अपने आपको विरोधियों, हानि पहुँचाने वालों, काम बिगाड़ने वालों से घिरा हुआ मानकर परेशान होता है। वह यह नहीं समझता कि यह परेशानी मेरे स्वयं के आंतरिक जीवन की बाह्य छाया मात्र है। जिनकी मानसिक

शक्तियाँ पुरोगामी होती हैं, उसे चारों ओर अपने मित्र, सहायक दिखाई पड़ते हैं। वह कठिनाइयों से नहीं घबराता। दूसरों में अच्छाइयाँ ही नजर आती हैं। फलतः जीवन की भीषण, विपरीत परिस्थितियों में भी वह सफलता प्राप्त कर लेता है; सब उसके सहायक बन जाते हैं।

वस्तुओं के काले पहलू का दर्शन करने, दूसरों के दोष, छिद्र आदि देखने, प्रतिगामी दृष्टिकोण के अभ्यास करते रहने पर थोड़े समय के बाद ऐसी स्थिति हो जाती है कि बाह्य कारण न पाकर मनुष्य अपने बुरे विचार, असद्भावों एवं दूषित दृष्टिकोण का केंद्र स्वयं को ही बना लेता है। यह बड़ी जटिल स्थिति हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप गंभीर शारीरिक या मानसिक रोग हो जाते हैं। इस तरह के लोग 'मेलेन्कोलिया' जैसे रोगों से पीड़ित हो जाते हैं। दूसरों से लड़ने की आदत पक्की हो जाने पर, मनुष्य जब अपने सामने लड़ने का कोई आधार नहीं पाता, तो वह अपने आप से लड़ने लगता है। जो व्यक्ति अपनी शक्ति के दिनों में दूसरों को मारते-पीटते हैं, बालकों पर लात-घूँसे और बेंत उठाते हैं, वे वृद्धावस्था में असमर्थ हो जाने पर अपना सिर फोड़ते हैं, शरीर को ताड़ना देते हैं और यहाँ तक कि कई व्यक्ति आत्म-हत्या तक कर लेते हैं। आत्म-हत्या अपने प्रति घृणा, हीनभाव, दोष-दर्शन की चरमावस्था है।

इसके विपरीत सद्भावना और उच्च विचारों वाला मनुष्य हर परिस्थिति में शांति, संतोष एवं प्रसन्नता अनुभव करता है। उसके विचारों से स्वयं उसका ही नहीं वरन् अन्य लोगों का भी हितसाधन होता है। भला मनुष्य चारों ओर भलाई की सुगंध बिखेरता है और बुरा मनुष्य बुराई का गंदा कीचड़ ही उछालता रहता है।

भलाई, उत्कृष्टता, स्वच्छता आदि सब ईश्वर, प्रकृति, नैतिक विधान की धरती पर मिलते हैं, वे अनादि हैं, स्थिर हैं, अनंत हैं। सृष्टि की रचना में कहीं भी गंदगी, बुराई, अपवित्रता नहीं है। संसार के तत्त्व चिंतकों, दार्शनिकों, हमारे ऋषियों ने यह सब

अनुभव किया और कहा—"मंगलमय भगवान् की मंगलमय कृति यह सृष्टि है" फिर भला दूषित, अपवित्र तत्त्व कहाँ से आये ?

हम अपने भीतरी दृष्टिकोण को बदलें तो बाहर जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, वह सब कुछ बदला-बदला दिखाई देगा। आँखों पर जिस रंग का चश्मा पहना होता है, बाहर की वस्तुएँ उसी रंग की दिखाई पड़ती हैं। अनेक लोगों को इस संसार में केवल पाप और दुर्भाव ही दिखाई पड़ता है। सर्वत्र उन्हें गंदगी ही दीख पड़ती है। इसका प्रधान कारण अपनी आंतरिक मलीनता ही है। इस संसार में अच्छाइयों की कमी नहीं, श्रेष्ठ और सज्जन व्यक्ति भी सर्वत्र भरे हैं, फिर हर व्यक्ति में कुछ न कुछ अच्छाई तो होती ही है। छिद्रान्वेषण छोड़कर यदि हम गुण-अन्वेषण करने का अपना स्वभाव बना लें, तो घृणा और द्वेष के स्थान पर हमें प्रसन्नता प्राप्त करने लायक भी बहुत कुछ इस संसार में मिल जायेगा। बुराइयों को सुधारने के लिये भी हम घृणा का नहीं, सुधार और सेवा का दृष्टिकोण अपनाएँ तो वह कटुता और दुर्भावना उत्पन्न न होगी, जो संघर्ष और विरोध के समय आमतौर से हुआ करती है।

दूसरों को सुधारने से पहले हमें अपने सुधार की बात सोचनी चाहिए। दूसरों से सज्जनता की आशा करने से पूर्व हमें अपने आपको सज्जन बनाना चाहिए। दूसरों की दुर्बलताओं के प्रति एकदम आग बबूला हो उठने से पहले हमें यह भी देखना उचित है कि अपने भीतर कितने दोष-दुर्गुण भरे पड़े हैं। बुराइयों को दूर करना एक प्रशंसनीय प्रवृत्ति है। अच्छे काम का प्रयोग अपने से ही आरंभ करना चाहिए। हम सुधरें, हमारा दृष्टिकोण सुधरे तो दूसरों का सुधार होना कुछ भी कठिन न रह जायेगा।

दूसरों के द्वारा अपने प्रति जो उपकार हुए हैं, उनका यदि हम विचार करते रहें तो यही अनुभव होगा कि हमारे निकटवर्ती सभी लोग बड़े उपकारी, सेवाभावी और स्वर्गीय प्रकृति के हैं। इनके साथ रहने से अपने को सुख ही सुख अनुभव करना चाहिए। इसके विपरीत यदि उनके दोष ढूँढ़ने लगें और उन घटनाओं का स्मरण किया करें, जिनमें उन्होंने कुछ अपकार किये हों तो हमें अपने सभी

स्वजन संबंधी बड़े दुष्ट प्रकृति के, अपकारी, असुर एवं शत्रु प्रतीत होंगे और ऐसा लगेगा कि इन लोगों का संपर्क हमारे लिए नरक के समान दुःखदायी है।

इस संसार का निर्माण सत् और तम, शुभ और अशुभ, भले और बुरे तत्त्वों से मिलकर हुआ है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जो पूर्णतः बुरा या पूर्णतः भला हो। समय-समय पर यह भली-बुरी परिस्थितियाँ दबती और उभरती रहती हैं। धूप-छाँह की तरह प्रिय और अप्रिय अवसर आते-जाते रहते हैं। इनमें से किसे स्मरण रखा जाये और किसे भुलाया जाये ? यही विचार करना बुद्धिमत्ता का चिह्न है। यदि हम दुःखों को, अभावों को, असफलताओं को, दूसरे के अपकारों को ही स्मरण किया करें, तो यह जीवन नरकमय दुःखों से भर जायेगा। हर घड़ी खिन्नता, निराशा और असंतुष्टि चित्त में छाई रहेगी। पर यदि दृष्टिकोण बदल लिया जाये और प्रिय प्रसंगों, सफलताओं, प्राप्त साधन-संपदा के लाभों और दूसरों के किये हुए उपकारों को स्मरण किया जाये तो प्रतीत होगा कि भले ही थोड़े अभाव आज हों पर उनकी तुलना में सुखदायक वातावरण ही अधिक है, दुर्भाग्य की अपेक्षा सौभाग्य की ही स्थिति अपने को अधिक उपलब्ध है।

जीवन को सुख शांतिमय बनाने के लिए सुविधा-सामग्रियों की आवश्यकता अनुभव की जाती है, सो ठीक है। इसके लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। यह भी न भूल जाना चाहिए कि जो प्राप्त है, उसका सदुपयोग किया जाय। उपलब्ध साधनों का सदुपयोग यदि हम सीख जाएँ, हर वस्तु का मितव्ययितापूर्वक उपयोग करें, उसका पूरा-पूरा लाभ लें तो जो कुछ प्राप्त है, वही हमारे आनंद को अनेकों गुना बढ़ा सकता है। अपनी धर्म-पत्नी, जैसी भी कुछ वह है यदि उसे अधिक शिक्षित, अधिक सुयोग्य बनाया जाए और उसके स्वभाव तथा गुणों का अपने कार्यक्रमों में ठीक प्रकार उपयोग किया जाए, तो यही पत्नी जो आज व्यर्थ का बोझ जैसी मालूम पड़ती है—अत्यंत उपयोगी एवं लाभदायक प्रतीत होने लगेगी। जितनी आजीविका आज अपने को प्राप्त है, यदि उसके खर्च की विवेक

और मितव्ययितापूर्वक ऐसी योजना बनाई जाय कि प्रत्येक पैसे से अधिकाधिक लाभ उठाया जा सके, तो यह आज की थोड़ी आजीविका भी आनंद और सुविधाओं में अनेक गुनी वृद्धि कर सकती है। इसके विपरीत यदि अपना दृष्टिकोण अस्त-व्यस्त है, तो बड़ी मात्रा में सुख-साधन उपलब्ध होते हुए भी वे कुछ लाभ न पहुँचा सकेंगे, वरन् 'जी के जंजाल' बनकर परेशानियाँ और उलझनें ही उत्पन्न करेंगे।

सुखी जीवन की आकांक्षा सभी को होती है। वह उचित और स्वाभाविक भी है, पर उसकी उपलब्धि तभी संभव है, जब हम अपने दृष्टिकोण की त्रुटियों को समझें और उन्हें सुधारने का प्रयत्न करें। सुधरा हुआ दृष्टिकोण स्वल्प साधनों और कठिन परिस्थितियों में भी शांति और संतोष को कायम रख सकता है। गरीबी में भी लोग स्वर्ग का आनंद उपलब्ध करते देखे जाते हैं। पर यदि दृष्टिकोण अनुपयुक्त है, तो संसार के समस्त सुख-साधन उपलब्ध होते हुए भी हमें सुखी न बना सकेंगे। अतएव सुखी जीवन की आकांक्षा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उचित है कि अपने दृष्टिकोण को परिमार्जित बनाने के लिए निरंतर प्रयत्न करता रहे।

आत्मिक दृष्टिकोण मानसिक संतुलन की दृष्टि से परिष्कार की प्रेरणा देता है। यदि उसे अपनाया जा सके तो मनुष्य जीवन में शोक-संतापों की, उद्वेगों की समस्या का सहज ही समाधान हो सकता है। यह कार्य इच्छित परिस्थितियाँ बना देने से संभव नहीं हो सकता। इच्छाओं की कोई सीमा नहीं, एक की पूर्ति होते ही दूसरी उससे भी बड़ी दिखाई देती है और अभाव—असंतोष जहाँ का तहाँ बना रहता है। यदि साधन जुटा देने भर से सुख-संतोष प्राप्त करना संभव रहा होता तो सभी साधन संपन्न व्यक्ति संतुष्ट पाये जाते, किंतु वे तो अभावग्रस्त लोगों की अपेक्षा और भी अधिक विक्षुब्ध पाये जाते हैं। मनुष्य की दूरदर्शिता जब कभी गंभीरता पूर्वक आजीवन प्रसन्नता बनाये रहने का उपाय खोजेगी, तब उसे एक ही मार्ग मिलेगा कि अध्यात्मवाद की नीति अपनायी जाए और मनःक्षेत्र को परिष्कृत किया जाए।

आर्थिक कठिनाइयाँ—

शारीरिक अस्वस्थता और मानसिक उद्विग्नता की समस्याओं पर विचार करने के उपरांत—आइए अब आर्थिक समस्या पर विचार करें। यह हर किसी के सामने मुँह बायें खड़ी है। ऐसे लोग कोई बिरले ही मिलेंगे, जो अपने को आर्थिक दृष्टि से संतुष्ट कह सकें। हर व्यक्ति अपने इस अभाव को दूर करने के लिए बहुत चिंतित दिखाई पड़ता है। बहुत हाथ-पैर मारने पर भी बात उतनी नहीं बनती, जितनी आवश्यकता अथवा इच्छा है। इसे दरिद्रता का व्यापक संकट कहा जा सकता है। इस समस्या पर भी विचार किया जाना चाहिए और उसका स्थिर समाधान खोजा जाना चाहिए।

पहले यह विचार करना होगा कि धन आखिर है क्या ? मानवी बल और बुद्धिबल का विभिन्न प्रयोजनों में प्रयोग करने से जो उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें संपत्ति कहा जा सकता है। धन की सही परिभाषा यही है। अर्थशास्त्र का आरंभ यहीं से होता है। जुआ, सट्टा, लाटरी, ब्याज, उत्तराधिकार, गड़ा-खजाना आदि के रूप में बिना श्रम की संपत्ति कई लोग प्राप्त कर लेते हैं, पर उसे अपवाद कहना चाहिए। इस प्रकार की संपदा के प्रति औचित्य की मान्यता बदली जानी चाहिए, अन्यथा विडंबना बनी रहेगी। आज नहीं तो कल वह दिन आकर ही रहेगा, जब अर्थशास्त्र का शुद्ध अध्यात्म सम्मत सिद्धांत ही सर्वमान्य होगा। शारीरिक और मानसिक श्रम का उचित मूल्य ही लोग धन के रूप में प्राप्त कर सकेंगे।

अधिक धन उपार्जित करके, अधिक सुख-साधन प्राप्त करने की इच्छा हो तो अपनी शारीरिक श्रम-क्षमता और मानसिक-दक्षता बढ़ाई जानी चाहिए। इस दृष्टि से जो जितना आगे बढ़ेगा, वह उतना अधिक प्राप्त करेगा। अपना दुर्भाग्य यह है कि हम श्रम से जी चुराने की प्रवृत्ति अपनाते हैं और आरामतलबी से समय गुजारना चाहते हैं। श्रम की अप्रतिष्ठा हमारा सामाजिक दोष है।

हरामखोरों को बड़ा आदमी एवं भाग्यवान कहा जाता है। श्रमजीवी अभागे और अछूत माने जाते हैं। यह प्रवृत्ति बदली जानी चाहिए। संपन्नता को खरीदने के लिए श्रम-क्षमता विकसित की जानी चाहिए।

शरीर की तरह ही मस्तिष्क भी उपार्जन का साधन है। शिक्षा, शिल्प, कला, कौशल, व्यवहारिक मधुरता आदि वरिष्ठताओं के सहारे अधिक धन कमाया जा सकता है। हम लक्ष्मी-पूजन जैसे किसी आकस्मिक संयोग से धन प्राप्त करने की बात सोचते हैं और चाहते हैं कि अकर्मण्यता, अदक्षता जहाँ की तहाँ बनी रहे। आलस्य-प्रमाद में कमी न पड़े और प्रचुर मात्रा में धन ऐसे ही आसमान से छप्पर फाड़कर निकल पड़े। यह अनात्मवादी मान्यता ही अर्थसमस्या का मूल कारण बन जाती है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण संपन्नता का औचित्यपूर्ण मार्ग सुझाता है। हमें अधिक परिश्रम के लिए उत्साह उत्पन्न करना चाहिए। हरामखोरी और कामचोरी को भी नैतिक अपराधों की श्रेणी में गिनना चाहिए। दक्षता बढ़ाने के लिए अधिक सोचने, अधिक जानने और अधिक सुयोग्य बनने के लिए सदैव सचेत रहना चाहिए। इस बढ़ी हुई दक्षता की कीमत पर निश्चय ही अधिक धन प्राप्त किया जा सकेगा और उससे उचित सुख-सुविधा का उपयोग किया जा सकेगा। आर्थिक प्रगति का यही राजमार्ग है। इसे छोड़कर सस्ते में सरलतापूर्वक बहुत जल्दी अधिक धन प्राप्त करने की बात सोचना प्रकारांतर से अनैतिक एवं अपराधी प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए अग्रसर होना है।

श्रम से जी चुराकर बैठे-ठाले अमीर बनने की आकांक्षा व्यक्तिगत रूप से अनीति के मार्ग पर धकेलती है और समाज में भी वैसी ही दुष्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती है। यदि बिना श्रम किये संपदा कमाई और इकट्ठी की गई, तो उसका स्रोत अनैतिक और अवांछनीय ही हो सकता है। चोरी, जुआ, सट्टा, भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी, आदि इसी स्तर के स्रोत हैं; जिनमें बिना श्रम किये लाभ उठाने की भावना काम करती है। एक व्यक्ति इस प्रकार

संपन्न हो जाता है तो समाज में दूसरे लोग उसे देखकर स्वयं भी संपन्न होने की इच्छा रखने लगते हैं और बिना मेहनत के अमीर बनने के लिए अनैतिक उपाय काम में लाना शुरू कर देते हैं।

ठगी, चोरी, बेईमानी, लूट, डकैती, मिलावट, कम तौल, मुनाफाखोरी, कर चोरी, तस्करी आदि अनैतिक अपराधों के पीछे उनके कर्त्ताओं की यही प्रवृत्ति काम कर रही होती है कि बिना उचित क्षमता एवं श्रमशीलता के स्वल्प काल में अधिक धन कमा लिया जाए। कमजोर प्रकृति के लोग मिलावट, कम तौलना जैसे सरल अपराध कर पाते हैं, दुस्साहसी भयंकर कुकृत्य कर गुजरते हैं। दिशा एक है, प्रयोग करने की स्थिति भर अलग है। यह गंभीरतापूर्वक समझा जाना चाहिए कि यह अपराधी प्रकृति मानवी चरित्र का सर्वनाश करती है, उसकी प्रामाणिकता और प्रतिष्ठा नष्ट करके अस्पर्श्य—संक्रामक रोग से ग्रसित की तरह उसे घृणास्पद बना देती है।

अनैतिकता अपनाकर जीवनयापन करने वाला—मनुष्य अमीर भले ही हो जाए, पर उसका व्यक्तित्व दिन-दिन पतन के गर्त में गिरता जायेगा। आत्म-प्रताड़ना उसे जर्जर बना देती है। अपनी नजर में गिरा हुआ मनुष्य किसी अन्य की नजर में ऊँचा नहीं उठ सकता। आत्मा और परमात्मा की अदालत में जघन्य अपराधियों की तरह लज्जित होकर खड़े होने वालों को अमीरी कितनी महँगी पड़ती है, इसे गंभीरतापूर्वक समझने का प्रयत्न किया जाए तो कदाचित् किसी की हिम्मत उस मार्ग पर चलने की न हो। अवांछनीय धन-लिप्सा ही समस्त दुष्कर्मों की जननी है। ऐसा धन व्यसन, अनाचार, विलासिता, फिजूलखर्ची जैसे अनुपयुक्त मार्गों में खर्च होता है और उससे अन्य प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

उपार्जन की क्षमता बढ़ाने के अतिरिक्त आर्थिक संतुलन का दूसरा उचित उपाय यह है कि आमदनी के अनुरूप खर्च किया जाए और बजट बनाकर चला जाए। सादगी से रहा जाए। अपनी सीमित आमदनी से दूसरे समझदार लोग जिस स्तर का जीवनयापन करते हैं, उसका अनुसरण किया जाय। यदि आमदनी नहीं बढ़ सकती तो

खर्च सीमित रखने चाहिए, विशेषतया नये खर्चे तो सिर पर लादने ही नहीं चाहिए। बच्चों की संख्या बढ़ाना भी आर्थिक संकट मोल लेने जैसा ही है। इसके कारण सारा परिवार अर्थाभाव में पिसता है। बच्चों का विकास भी नहीं हो पाता। उनकी आत्मा इस दयनीय स्थिति के लिए उन्हीं मूर्खों को कोसती है, जो संतानोत्पादन से पूर्व इस नये उत्तरदायित्व के निर्वाह में असमर्थ होते हुए भी अंधेरे में कदम बढ़ाते चले गये।

आध्यात्मिक सिद्धांत के अनुसार परिवार में क्रियाशीलता बढ़ाकर भी संकट की चिंता से बचा जा सकता है। "एक कमाये सब खाएँ" की परंपरा अपने घरों में चल रही है। इसे छोड़कर छोटे गृह-उद्योगों की व्यवस्था हर घर में की जा सकती है और खाली समय में कुछ कमा लेने का उत्साह हो, तो ऐसे रास्ते सहज ही निकल सकते हैं जिससे आजीविका में वृद्धि की जा सके।

किंतु यह आय नहीं बढ़ सकती तो खर्च सीमित रहने चाहिए, विशेषतया नये खर्च तो सिर पर लादने ही नहीं चाहिए। ऋण लेने की आदत भी तभी पड़ती है, जब आमदनी से अधिक खर्च बढ़ जाय। आपत्ति काल में या किसी व्यावसायिक प्रयोजन के लिए ऋण लेना अलग बात है, किंतु खर्च बढ़ा लेना और उन्हें ऋण लेकर पूरा करना ऐसा अविवेक है, जिसका दुष्परिणाम एक दिन दिवालिया बन जाने, बेईमान कहलाने और तिरस्कार सहने के रूप में ही सामने आता है। आध्यात्मिक आदर्श अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखने, आमदनी के अनुसार खर्च करने और अधिक उपार्जन के लिए योग्यता बढ़ाने, अधिक श्रम करने की ही प्रेरणा देते हैं।

ऋण लेने की आदत बेईमानी का ही छोटा रूप है। आध्यात्मिक आदर्शों से प्रभावित व्यक्ति आवश्यकताओं को सीमित रखने में समर्थ होता है तथा ऋणी बनना पसंद नहीं करता, इसलिए इस विडंबना से बच जाता है।

अपने देश में सामाजिक कुरीतियाँ अर्थ संकट उत्पन्न करने का बहुत बड़ा कारण हैं। विवाह-शादियों में होने वाले अपव्यय

कुरीतियों में सर्वप्रथम हैं। अलन-चलन, मृतक भोज, धर्माडंबर की आड़ में कुपात्रों से जेब कटाते रहना, जैसी अनेक मूर्खताएँ अपने समाज में प्रचलित हैं, जिनके कारण असाधारण रूप से धन की बर्बादी होती है और लोगों को दरिद्र एवं बेईमान बनना पड़ता है। सभी कुप्रथाएँ भी ऐसी ही हैं, जिनको चौधरी, पंचों की, लोकचर्चा की परवाह किये बिना एक ही झटके में उखाड़ फेंकना चाहिए। यह साहस विवेकवान तथा आत्मबल संपन्न व्यक्ति ही कर सकते हैं।

अविवेकी लोग ओछे रास्ते अपनाकर धनी बनना चाहते हैं, किंतु अनाचार एक दिन प्रगट होकर ही रहता है; तब ग्राहकों के असहयोग का संकट उस उपार्जन को ठप्प करके रख देता है। कामचोर और बेईमान कर्मचारी कभी उन्नति नहीं कर सकते। ईमानदारी की नीति पर चलते हुए ही हर व्यक्ति प्रामाणिक बन सकता है। अपने श्रम एवं उत्पादन का प्रामाणिकता के आधार पर अधिक मूल्य पा सकता है एवं अधिक सम्मान भी।

अर्थ क्षेत्र में श्रमनिष्ठा, मनोयोगपूर्वक कार्य-संलग्नता, ईमानदारी, प्रामाणिकता, सादगी, मितव्ययिता यह सभी गुण अध्यात्म-आदर्शों के अनुरूप हैं। इन्हें अपनाये बिना अर्थ-संकट से बचे रहने का, अर्थ-उपार्जन और संतुलन का और कोई मार्ग नहीं। अनीति की कमाई का आकर्षण और मूर्खतापूर्ण अपव्यय की आदत ही अर्थ संबंधी विकृतियों का कारण बनती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण का व्यक्ति इन दोनों से सहज ही बच जाता है।

अनुत्पादक तथा जमाखोरी को आर्थिक संतुलन के लिए विष माना जाता है। 'कमाया सौ हाथ से जाय; पर दान हजार हाथ से किया जाए' की नीति अत्यंत ही प्रशंसनीय है। वह संतोष हानिकारक है, जिससे मनुष्य—अकर्मण्य बनता है और उत्पादन से हाथ सिकोड़ता है। हर व्यक्ति को राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने के लिए अथक परिश्रम करना चाहिए। अंतर इतना ही है कि वह उपार्जन एकाकी उपयोग में न लगकर सार्वजनीन हित साधन में लगता रहे। निषेध एकाकी उपयोग का है, उसी के संबंध में कहा गया है कि,

"जो आप कमाता और आप ही खाता है—वह चोर है"। यह अध्यात्म सम्मत अर्थनीति ही व्यक्ति और समाज की सुख-शांति में वृद्धि कर सकती है और इसी को अपनाकर अर्थ संकट से सदा-सर्वदा के लिए छुटकारा पाया जाता है।

पारिवारिक विग्रह—

चौथी समस्या पारिवारिक है। गृह-कलह से लोग अशांत पाये जाते हैं। ऐसे परिवार थोड़े-से ही मिलेंगे, जिनमें स्नेह, सौजन्य, सद्भाव, सहयोग के वातावरण हो और छोटे-छोटे घरों में स्वर्गीय हर्षोल्लास का जीवन जिया जा रहा हो। बाहर से एक दिखते हुए भी मनोमालिन्य, असहयोग, उपेक्षा, अवज्ञा, आपाधापी की स्थिति बनी रहती है और अनुशासनहीनता पनपती रहती है। इन कारणों से परिवार संस्था नष्ट-भ्रष्ट होती चली जा रही है।

परिवार संस्था के महत्त्व को भुला दिये जाने के कारण ही पारिवारिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। आज परिवार की आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करना भर ही पर्याप्त समझा जाता है। अच्छा खिला दिया, बढ़िया पहना दिया, शिक्षा और मनोरंजन के साधन जुटा दिये, बस इतने मात्र से ही पारिवारिक उत्तरदायित्व पूरे हुए समझ लिये जाते हैं। परिवार के सदस्यों की बाहरी आवश्यकताएँ सुविधापूर्वक पूरी होते रहने से, उनमें ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि कोई असुविधा होते ही वे विग्रह पैदा करने लगते हैं। जब परिवार को धर्मशाला और होटल से अधिक कुछ बनाने की चेष्टा ही नहीं की जाती तो रहने-खाने में कोई भी असुविधा होते ही कलह उत्पन्न होना अस्वाभाविक कैसे कहा जायेगा ? परिवार का उद्देश्य और महत्त्व समझा जाना चाहिए। समाज और व्यक्ति के बीच की कड़ी परिवार है। यही वह खदान है, जिसका वातावरण सुसंस्कृत बना रहे तो उसमें से नररत्न निकलते रहेंगे तथा अपना गौरव और समाज का वर्चस्व बढ़ाते रहेंगे। परिवार-घटकों का समूह ही समाज है। स्कूली शिक्षा से जानकारी भर बढ़ती है। गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर बनने वाला चरित्र तो परिवार की पाठशाला

में ही बनता है। इसी व्यायामशाला में अभ्यास करके व्यक्तित्व ढालने की प्रक्रिया संपन्न होती है। इन तथ्यों की उपेक्षा कर देने के दुष्परिणाम ही पारिवारिक समस्याओं के रूप में सामने आते हैं।

आज परिवार की आर्थिक आवश्यकता पूरी करने भर का ध्यान रखा जाता है। अच्छा खिला-पहना दिया, पढ़ाई और शादी के साधन जुटा दिये, उत्तराधिकारियों के लिए धन छोड़ दिया, इतने भर से पारिवारिक उत्तरदायित्वों की इतिश्री समझ ली गई। इसका अर्थ तो यह हुआ कि परिवार के सदस्य भौतिक यंत्र मात्र हैं, जिनकी आवश्यकताओं के लिए भौतिक साधनों का जुटा दिया जाना पर्याप्त है। मोटर के लिए पेट्रोल, लुबरीकेशन, ग्रीस, पानी आदि जुटा देना पर्याप्त है, पर मनुष्य मशीन तो नहीं है। उसके भीतर जीवन और चेतना भी है। उस कल्पवृक्ष का पनपना और परिष्कृत बनना, सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों का खाद-पानी पाकर ही संभव हो सकता है। यह साधन जुटाए जा सकें तो गरीबी में रहते हुए भी किसी परिवार के सदस्य, नैष्ठिक नागरिकों की श्रेष्ठ सज्जनों की श्रेणी में गिने जा सकने योग्य बन सकते हैं।

परिवारों के सृजन और परिपोषण के लिए अध्यात्म-दृष्टिकोण से ही तो परिस्थितियाँ ऐसी बनेगी, जिसमें पलने वाले आजीवन अपने सौभाग्य को सराहते रहेंगे। विवाह वासना के लिए नहीं, विशुद्ध रूप में दो आत्माओं के बीच घनिष्ठता, मैत्री एवं सहयोग के लिए किए जाएँ और उसी आदर्श को दोनों पक्ष निबाहें; तो निश्चित रूप से उनके बीच उच्चस्तरीय आत्मीयता विकसित होगी। वे दोनों हर स्थिति में संतुष्ट रहेंगे और कर्त्तव्य-उत्तरदायित्व को समझते हुए पूरे परिवार को समुन्नत बनाने में जुटे रहेंगे। ऐसे लोग संतानोत्पादन के लिए लालायित नहीं हो सकते। वे स्वतः ही समझेंगे कि घर के बड़ों की सेवा, बराबर वालों का सहयोग और छोटों को अनुदान देने की जिम्मेदारियाँ पूरा करना आवश्यक है। उनकी पूर्ति के लिए ही जब पर्याप्त धन और समय नहीं है तो अनावश्यक अतिथियों की घुसपैठ क्यों होने दी जाय ?

आधुनिक वातावरण में पनप रहे परिवारों में आये दिन खींचतान, आपाधापी, द्वेष-दुर्भाव का विकृत वातावरण बना रहता है। फलतः उस घुटन में जो भी रहते, पलते हैं, दुर्बुद्धिग्रसित होते जाते हैं। यदि इस स्थिति को बदला जा सके और इस पाठशाला में सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों के आधार पर दैनिक कार्य व्यवहार का ढांचा खड़ा किया जा सके तो घर का हर व्यक्ति नित्य नियमित रूप से श्रमशीलता, स्वच्छता, मधुरता, मितव्ययिता, सहकारिता, सेवा, सहायता, ईमानदारी, कर्त्तव्य परायणता जैसे सद्गुणों को अपनाता और पनपाता चला जायेगा। परिवार की नर्सरी में ठीक तरह उगाया गया पौधा, जिस बगीचे में भी लगेगा, वहीं फलेगा-फूलेगा और अपने सुंदर फूलों और मधुर फलों से लदा हुआ श्रेष्ठ वातावरण उत्पन्न करेगा।

परिवारों का सृजन और संचालन यदि आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाकर किया जाए, तो उसमें सद्भावना हिलोरें ले रही होंगी। सत्परंपराएँ पनप रही होंगी और उनमें रहने-पलने वाले अपने को धन्य अनुभव कर रहे होंगे। किंतु यदि वासना के लिए विवाह, मोह के लिए संतान, लाभ के लिए उपार्जन और अहंकार का आधिपत्य चरितार्थ किया जा रहा होगा तो हर घर में नारकीय वातावरण ही बना रहेगा और उससे दम घुटने जैसी व्यथा सहन करते हुए हर सदस्य क्रमशः अधिक विकृत ही बन रहा होगा।

इस भौतिकतावादी दृष्टिकोण ने पाश्चात्य देशों में परिवार संस्था का दम घोट दिया है। वहाँ वासना के लिए विवाह होते हैं और इसी पशु-प्रवृति से टकराकर हर-दिन जोड़े जुड़ते-बिछुड़ते हैं। पति-पत्नी में किसी को विश्वास नहीं होता कि हम लोगों का आज का सहचरत्व कल तक भी स्थिर रह सकेगा या नहीं। अविश्वास और अनिश्चय से भरे दांपत्य जीवन कितने नीरस, कितने अस्थिर, कितने बनावटी होते हैं और पति-पत्नी के बीच कितनी बड़ी दीवार खड़ी रहती है, इसे कोई उन तथा-कथित सभ्य लोगों के बीच रहकर भली प्रकार देख सकता है। अभिभावकों को अपनी संतान की अवज्ञा मिलती है और संतान को अभिभावकों की उपेक्षा। ऐसी

दशा में संयुक्त परिवारों का वह स्वर्गीय वातावरण कैसे स्थिर रह सकता है, जो भारत की अपनी मौलिकता और अपनी विशेषता है। जिसके लिए आज भी समस्त संसार की आशा भरी दृष्टि लगी हुई है, और सोचा जा रहा है कि इसी पद्धति को पुनर्जीवित करके ही व्यक्ति का निर्माण और समाज का विकास संभव हो सकेगा।

परिवार संस्था को नवजीवन मिल सके तो वह अपने छोटे-छोटे घरों में—स्वर्गीय अनुभूतियों को अपनी इसी धरती पर दृश्यमान कर सकते हैं। यह नर जीवन गृह-विज्ञान के नाम से प्रचलित सुव्यवस्था और सुसज्जा का प्रकरण पूरा कर लेने भर से नहीं मिल सकता। इसके लिए आध्यात्मिक-दृष्टिकोण का गहराई तक समावेश करना होगा। घर को आदर्शवादिता की प्रयोगशाला, पाठशाला, व्यायामशाला के रूप में विकसित करना होगा। आहार-विहार से लेकर दैनिक क्रियाकलाप और पारस्परिक व्यवहार में ऐसे सूत्रों का समन्वय करना पड़ेगा, जिसके सहारे परिवार के सदस्यों में से हर एक को उत्कृष्ट चिंतन एवं आदर्श कर्त्तृत्व अपनाने के लिए अदम्य उत्साह पैदा हो सके।

धन अपनी जगह उपयोगी हो सकता है, सुव्यवस्था को भी सराहा जा सकता है, पर स्मरण रहे इतने भर से ही परिवार संस्था प्राणवान न हो सकेगी। नई उच्च शिक्षा दिलाकर संतान को कमाऊ पूत बना देना उचित है। उनके लिए प्रचुर साधन जुटा देने का भी महत्त्व हो सकता है, पर ध्यान रहे यदि उनमें सद्‌गुणों का बीजारोपण न हो सका—सद्‌भावनाएँ विकसित न की जा सकीं, स्वभाव में सज्जनता का समावेश न हुआ तो वे समृद्ध बन जाने पर भी व्यक्तित्व घटिया होने के कारण, सदा उलझनों में ही उलझे रहेंगे। स्वयं कुढ़ते रहेंगे और साथियों को भी कुढ़ाते रहेंगे। ऐसे व्यक्ति न स्वयं चैन से रहते हैं और न संपर्क में आने वाले किन्हीं को चैन से रहने देते हैं। वे स्वयं गिरते हैं और साथियों को भी गिराते हैं। ऐसी संतानें बढ़ाकर कोई मिथ्या अहंकार भले ही कर ले कि हमने पीढ़ियों को पदवीधारी या कमाऊ बना दिया, वस्तुतः ऐसे उत्पादन पर किसी की आत्मा गर्व अनुभव नहीं कर सकती।

परिवार तो वही धन्य है जिसमें से श्रेष्ठ परंपराओं का निर्वाह कर सकने वाले चरित्रवान, आदर्शवादी नररत्नों का उद्‌भव हो सके। ऐसे सुसंस्कृत परिवार केवल वही बन सकते हैं, जिनमें आध्यात्मिक-दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी गई हो। इसकी उपेक्षा की जाती रहे, तो फिर यह सोचना व्यर्थ है कि भारत के प्राचीन आदर्शों की मूर्तिमान प्रयोगशाला के रूप में स्वर्गीय उल्लास की प्रतिच्छवि प्रस्तुत करने वाले देव-मंदिरों के रूप हमें अपने परिवारों में विकसित कर सकने का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा।

परिवार संस्था को यदि सच्चे अर्थों में जीवित रखना है, उसे मात्र भेड़ों का बाड़ा नहीं रहने देना है तो रास्ता एक ही है कि उसका सृजन और संचालन आध्यात्मिक आदर्शों को प्रमुखता देते हुए किया जाए। शरीर के अवयवों जैसा पारस्परिक सघन सहयोग घर के सदस्यों के बीच पनपे, अधिकारों की उपेक्षा और कर्त्तव्यों के प्रति जागरूकता का आदर्श यदि परिवार का हर व्यक्ति निबाहे, तो उस उद्यान के सभी पेड़-पौधे शोभा-सुषमा से हरे-भरे दिखाई पड़ेंगे। अपने सुगंध-सौंदर्य से सारे वातावरण को हर्षोल्लास से भर रहे होंगे।

आत्मिक विडंबना—

व्यक्तिगत जीवन की पाँचवीं समस्या आत्मिक विकास की है। आत्मिक जीवन में परमात्मा का अनुग्रह आंतरिक शांति, आत्म-संतोष एवं आत्म लाभ होने की तृप्ति को सफलता का चिह्न माना जाता है। सिद्धियाँ और चमत्कार इसी स्तर पर पहुँचे हुए व्यक्तियों में देखे जाते हैं। वे महामानव बनते हैं। जीवात्मा, महात्मा, देवात्मा और परमात्मा के स्तर पर विकसित होने का लाभ इसी मार्ग पर चलते रहने वालों को प्राप्त होता है। स्वर्ग और मुक्ति का आनंद इसी प्रगति के साथ संबद्ध है। जीवन लक्ष्य की पूर्ति के लिए आत्मशक्ति को प्राप्त करना होता है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूजा-उपासना के उपचार काम में लाये जाते हैं, जो उचित भी हैं और आवश्यक भी। किंतु यह

ध्यान में रखा जाय कि यह उपचारात्मक कर्मकांड साध्य नहीं साधन है। इनका उद्देश्य अंतरात्मा के गहन स्तर में अध्यात्म की आस्थाओं के लिए जगह बनाना और उन्हें विकसित होने को पृष्ठभूमि बनाना भर है। चापलूसी करने, प्रलोभन देने या रिझाने वाले उपक्रम बनाने से उस परमात्म सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जो सर्वांतर्यामी और सृष्टि-संचालक होने की महानता धारण किये हुए हैं। उसे उपचारात्मक बालक्रीड़ाओं से वशवर्ती नहीं किया जा सकता।

ईश्वरी अनुग्रह प्राप्त करने का—अंतरात्मा में परमात्मा के अवतरण का एक मात्र आधार यही है कि दोनों का स्तर एक जैसा हो। सजातीय ही आपस में—घुलते हैं। दूध में पानी मिल सकता है। संतों का संत समागम होता है और दुष्टों की दुर्जन-गोष्ठी दुरभिसंधियाँ रचती हैं। ईश्वर की समीपता का लाभ उसी स्तर की मनोभूमि बनाये बिना और किसी प्रकार संभव नहीं हो सकता। आत्मिक प्रगति और आत्मशक्ति के कारण दिव्य-जीवन का लाभ मिलता है और उसी के सहारे उन विभूतियों की उपलब्धि होती है जो ईश्वरीय अनुग्रह के कारण मिलने वाली फलश्रुतियों के रूप में समझी-समझायी और बतायी जाती है।

आत्मा और परमात्मा के बीच की दीवार कलुष-कषायों के ईंट से चुनी गई है। दोनों अति समीप होते हुए भी अति दूर इसीलिए बने हुए हैं कि अपनाई गई असुरता खाई बनकर बीच में अड़ गई है। उसे पाटे बिना दोनों का मिलन संभव नहीं। अंगार पर राख की परत जम जाती है, तो वह देखने में काला लगता है और छूने में गुनगुना भर रहता है। यदि परत को हटा दिया जाय तो अंगारा फिर पूर्व स्थिति में आ जायेगा और उसकी चमक तथा गर्मी वैसी ही दृष्टिगोचर होगी जैसी कि पहले रहती थी। आत्मा परमात्मा का अंश है। अंश में अंशी की सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। विक्षेप उसी अवांछनीयता द्वारा उत्पन्न किया हुआ है, जिसे माया, भ्रांति, अवांछनीयता आदि के नामों से पुकारते हैं।

वेदांत दर्शन के अनुसार परिष्कृत आत्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्मविद्या की सुविस्तृत चर्चा करने के लिए जिस तत्त्वज्ञान का सृजन हुआ है, गहराई से उसका अध्ययन किया जाय तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि अध्यात्म विद्या का इतना विशाल कलेवर अंतःकरण पर चढ़ी हुई दुष्प्रवृत्तियों को मिटाने और इसकी जगह पर उच्चस्तरीय आस्थाओं को प्रतिष्ठापित करने के लिए ही खड़ा किया गया है। इसी मार्ग पर चलते हुए आत्मा को परमात्मा बनने का अवसर मिलता है। अपनी संकीर्णताओं और दुर्बलताओं की बेड़ियाँ काट डाली जाएँ और अंतःकरण में उत्कृष्ट आदर्शवादी मान्यताएँ प्रतिष्ठापित कर ली जाएँ, तो ही नर से नारायण, अणु से विभु और आत्मा से परमात्मा हुआ जाता है, क्योंकि मनुष्य की मूल सत्ता तो वही है।

पूजा-पाठ आरंभिक और योग-तप को उच्चस्तरीय उपासना पद्धति बताई और अपनायी जाती है। गहराई से देखने पर इस समूची प्रक्रिया का उद्देश्य आत्म सुधार और आत्म परिष्कार के लिए अंतःभूमिका में अभीष्ट पृष्ठभूमि बनाना भर है, जिसकी उपासना इस मूल प्रयोजन को जितनी मात्रा में पूरा कर देती है, उसे उतनी ही मात्रा में आत्मोत्कर्ष का लाभ मिलता है। इस आत्मोत्कर्ष को ही दूसरे शब्दों में आत्म-साक्षात्कार एवं ईश्वरीय अनुग्रह के नाम से पुकारा जाता है। जिसकी उपासना इस मूल प्रयोजन को पूरा नहीं करती, रिझाने वाले उपचारों तक भटकती रहती है, उसके पल्ले कुछ पड़ता नहीं। ऐसे ही लोग साधना की निरर्थकता का रोना रोते और असफलता की शिकायत करते पाये जाते हैं। पूजा-उपचारों से देवता के प्रसन्न होने और मनचाहे वरदान देने की आशा लगाये रहने वाले व्यक्ति भ्रांतियों की भूल-भुलैया में चक्कर भर काटते रहते हैं, उन्हें वह लाभ नहीं मिलता जो आत्म-साधना से मिल सकता है, मिलता रहा है।

आत्मचिंतन, आत्मसुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की चार दीवारों पर आत्मिक प्रगति का भवन खड़ा होता है। हवाई किला बनाकर कल्पना की उड़ानें तो उड़ी जा सकती हैं, पर यदि

मजबूत महल बनाना है और उसमें निवास करने का वास्तविक आनंद लेना हो, तो जमीन पर उसकी सुदृढ़ आधारशिला रखी जानी चाहिए। ईश्वरीय अनुग्रह की अमृत वर्षा तो सर्वत्र अनवरत रूप में होती रहती है, उसके लिए माँगने कहीं नहीं जाना है और अनुरोध-आग्रह किसी से नहीं करना है। साधना का उद्देश्य एक ही है—आत्मशोधन। दुष्कर्म से स्थूल शरीर, दुर्बुद्धि से सूक्ष्म शरीर और दुर्भावों के कारण शरीर में विकृतियाँ भर जाती हैं और समूचा व्यक्तित्व पतन के गर्त में जा गिरता है। इसी दुर्गति के खड्ड में पड़े हुए लोग नित्य उदय होने वाले सूर्य के प्रकाश से वंचित रहते हैं। ईश्वरीय अनुग्रह से वंचित रहते हैं। ईश्वरीय अनुग्रह से वंचित रहने का कारण हमारी अपनी ही अकृतज्ञता होती है। कठोर चट्टान पर अनवरत वर्षा होते हुए भी हरियाली उत्पन्न नहीं होती। इसमें बादलों से अनुरोध करना व्यर्थ है। चट्टान को ही कोमल रेत में बदलना पड़ेगा।

ईश्वर से विविध प्रार्थनाएँ की जाती हैं। उपासनाओं के अनेकानेक विधि-विधान हैं। इनमें प्रकारांतर से आत्मशोधन के सभी संकेतों की ही भरमार है। वेदांत दर्शन के अनुसार अपनी परिष्कृत आत्मा ही—परमात्मा है। यह परिष्कार ही साधना विज्ञान की पृष्ठभूमि है। ब्रह्मविद्या के अंतर्गत तत्त्वज्ञान की सुविस्तृत विवेचना के लिए दर्शनशास्त्र का सृजन हुआ है। उसके अनेक निर्धारणों पर पैनी दृष्टि डाली जाय और खोजा जाय कि अध्यात्म जीवन का इतना विशालकाय-कलेवर किसलिए खड़ा किया गया है ? तो इस प्रश्न के उत्तर में एक ही निष्कर्ष उभरकर आयेगा कि अंतःकरण पर चढ़ी हुई दुष्प्रवृत्तियों को निरस्त करके उस जगह दैवी विभूतियों को, उच्चस्तरीय आस्थाओं को प्रतिष्ठापित किया जाय। यही एकमात्र वह मार्ग है, जिस पर चलते हुए आत्मा को परमात्मा बनने का अवसर प्राप्त होता है। नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, अणु से विभु, लघु से महान बनने का एक ही उपाय है कि अपनी तुच्छताओं, संकीर्णताओं, दुर्बलताओं की बेड़ियों काट

डाली जाएँ और महानता के उन्मुक्त आकाश में विचरण किया जाए।

धुँधले दर्पण में मुँह दिखाई नहीं पड़ता—गंदले पानी की तली में पड़ी हुई वस्तु ओझल रहती है। अंतर की मलीनताओं के कारण ही आत्मा मूर्छित पड़ी रहती है और परमात्मा खोजने से भी नहीं मिलता। वासना और तृष्णा के आवरण आँखों पर पट्टी बाँधे रहते हैं। लोभ-मोह के रस्सों से भव-बंधन में जकड़े रहते हैं। संकीर्ण-स्वार्थपरता का ग्राह ही जीव रूप गज को अपने मुँह में निगले रहता है। इनसे छुटकारा मिल सके और उदात्त-चिंतन की दृष्टि मिल सके, तो समझना चाहिए कि जीवन मुक्त हो गया, मुक्ति मिल गई। परिष्कृत दृष्टिकोण का नाम ही स्वर्ग है। जो अपनी मौलिक गरिमा को समझ सका, विश्व उद्यान में अपनी जैसी कर्त्तव्य परायणता निश्चित कर सका, अपनी बहिरंग एवं अंतरंग गतिविधियों को उच्चस्तरीय बना सका, समझना चाहिए उसने आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक व्यथा-वेदनाओं की नरक-वैतरणी पार कर ली और स्वर्ग के राज्य का आधिपत्य प्राप्त कर लिया। स्वर्ग एवं मुक्ति उस विवेक सम्मत दूरदर्शी दृष्टिकोण में सन्निहित हैं, जिसे अध्यात्म के नाम से जाना-माना जाता है।

महामानव, सिद्ध पुरुष, महात्मा, देवात्मा, अवतारी, चमत्कारी आदि के नाम से जिन विशिष्ट आत्माओं के चरणों में जन साधारण की श्रद्धांजलि अर्पित होती है, जो स्वयं भार ढोते और दूसरों को अपनी नाव पर बिठाकर भवसागर से पार लगाते हैं, उन्हें ही ऋषि एवं देवमानव कहते हैं। इनकी एक ही विशेषता, एक ही सफलता होती है कि उन्होंने अपने कषाय-कल्मषों को धो डाला होता है, क्षुद्रता का परित्याग कर महानता को अपना लिया होता है। ऐसे आप्त पुरुषों में भगवान की दिव्य ज्योति-आलोक पाया जाता है और उनके संपर्क में आने वालों को पारस छूकर लोहे से सोना बनने जैसा लाभ प्राप्त होता है।

महामानवों का सहयोग, देवताओं का वरदान, ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिकता को व्यावहारिक जीवन में उतारने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। मनुष्य जीवन की पाँचवीं सफलता है—आत्मिक प्रगति के अवरोध का निवारण। इसी उलझन के कारण मनुष्य को पशु-जीवन जीना पड़ता है और नारकीय यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। इसका समाधान भी आध्यात्मिक आदर्शों को अपना लेने के अतिरिक्त और किसी प्रकार संभव नहीं हो सकता है।

यदि हम जीवन की उलझनें सुलझाना चाहते हैं, समस्याओं का हल पाना चाहते हैं, तो अध्यात्म की रीति-नीति अपनाने के लिए साहस जुटाना चाहिए। इसी पथ पर चलते हुए मनुष्य जीवन का सच्चा आनंद और सच्चा लाभ लिया जा सकता है।

सुखी जीवन का उपाय एक ही है, समस्त समस्याओं का समाधान एक ही है कि हमारी आस्था बदलें, उसमें उत्कृष्टता का अधिकाधिक समावेश हो और उसका प्रतिफल व्यक्तित्व में बढ़ते हुए देवत्व के रूप में परिलक्षित हो। देव समाज के लिए स्वर्गीय परिस्थितियाँ सुरक्षित हैं। संत इमर्सन कहते थे कि—"मुझे नरक में भेज दो, मैं वहीं अपने लिए स्वर्ग बना लूँगा।" उनका यह दावा मिथ्या नहीं था। उत्कृष्टतावादी के लिए सामान्य परिस्थितियों में भी स्वर्गीय सुख-शांति का सृजन कर सकना, नितांत सरल स्वाभाविक एवं संभव है। यदि हम अध्यात्मवादी रीति-नीति अपना सकें तो निश्चित रूप से आधुनिक जीवन में प्रस्तुत अनेकानेक समस्याओं का समाधान पा सकते हैं।



समाजपरक संदर्भ

यह संसार भगवान का सुरम्य उद्यान है। मनुष्य उसका ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार है। उसे इस उपवन की उल्लास भरी सैर करने भेजा है। पर्याप्त सुविधा-साधन देकर यहाँ की परिस्थितियाँ अधिक अच्छी बनाने में कुशलता दिखाने का काम सौंपा गया है। इस स्थिति में मनुष्य को निरंतर हर्षोल्लास ही हर्षोल्लास की अनुभूति होनी चाहिए। बुद्धि-वैभव में वह क्षमता है कि मरुस्थल में फूल खिला सके। फिर क्या कारण है कि उससे संपन्न होते हुए भी मनुष्य में रोना-रुलाना, कलपना-कलपाना पाया जाता है ?

सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व पाने वाला मनुष्य इस धरती को स्वर्ग बना सकने की संभावनाओं से पूरी तरह सुसज्जित है। यहाँ निर्वाह ही नहीं, आनंद और उल्लास के प्रचुर साधन पग-पग पर उपलब्ध हैं। मनुष्य का इस पृथ्वी पर एकछत्र राज्य है। उसकी उपलब्धियों पर आश्चर्य प्रकट किया जाता है, किंतु इससे भी बड़े आश्चर्य की बात यह है कि हर समस्या को सहज ही सुलझा सकने में समर्थ मनुष्य को किसी कारण इतनी अधिक गुत्थियों में जकड़ना पड़ा है, जो सुलझाने में नहीं आतीं और डरावनी काली घटाओं की तरह निरंतर अधिक सघन होती चली जाती हैं।

प्रगति के नाम पर जहाँ मनुष्य ने अनेक वस्तुएँ कमाई हैं, वहाँ समस्याएँ भी कम नहीं बढ़ाई हैं—कठिनाइयों ने भी कम उन्नति नहीं की है। अब से कुछ शताब्दी पूर्व तक मनुष्य इतने विवश और निराश नहीं थे, जितने कि अपने प्रगतिशील कहे जाने वाले समय में उत्पन्न हुए हम लोग हैं। तब साधन भले ही कम रहे हों पर लोग मिल-जुलकर रहते थे और एक-दूसरे के प्रति सहयोग-सद्भाव की उदार आत्मीयता अपनाकर अधिक सुखी और संतुष्ट रहते थे। लगता है वह सौभाग्य अपने हाथों से कोई और महादैत्य क्रमशः छीनता ही चला जा रहा है।

सिंह-व्याघ्र के आक्रमण-आतंक की बात समझ में आती है; सांप-बिच्छू का, प्रकृति का भय समझ में आता है। पर मनुष्य ही मनुष्य के शोषण का शिकार बने, मनुष्य ही मनुष्य का रक्तपान करने में संलग्न दिखाई पड़े, मनुष्य को मनुष्य के ही आतंक से काँपना पड़े, यह स्थिति अत्यंत विलक्षण है। सहकारी स्वभाव होने पर भी अपराधों और आक्रमणों की धूम क्यों बनी रहे ? इस विचित्रता का उत्तर तो प्राप्त किया ही जाना चाहिए।

राजनीति के क्षेत्र में विग्रहों का अंत नहीं। शासन तंत्र चलाने वाले नेताओं के मस्तिष्क पर इतना दबाव रहता है कि वे चैन से एक दिन भी नहीं रह पाते। तनाव के कारण उनका स्वास्थ्य क्षीण होता है और प्रायः अकाल में ही काल-कवलित होना पड़ता है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल खोजने के लिए ईमानदारी से प्रयत्न करते हैं, पर कुछ बन नहीं पाता। एक सिरे को ढकने की बात बन नहीं पाती कि दूसरा सिरा उघड़कर नई चिंता उत्पन्न कर देता है।

सामाजिक समस्याएँ भी अपने युग में कम नहीं। समाज के मूर्धन्य व्यक्ति उनसे चिंतित हैं और समाधान के लिए अपने ढंग से प्रयत्न करते हैं। पर देखने में यही आ रहा है कि एक गुत्थी सुलझने नहीं पाती कि दूसरी नई उठकर खड़ी हो जाती है। एक रोग अच्छा नहीं हो पाता कि दूसरा नया उठ खड़ा हो जाता है। एक युद्ध समाप्त होने नहीं पाता कि नये युद्ध की नींव पड़ जाती है।

व्यक्तियों का विकृत चिंतन ही उनके लिए और समाज के लिए समस्याएँ उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए युद्ध और उपद्रवों को ही लें। एक वर्ग-दूसरे वर्ग से यह खौफ खाये बैठा है कि कहीं वह उसे हानि न पहुँचा दे, इसलिए वह दूसरे वर्ग या राष्ट्र को दबाकर रखने के लिये तरह-तरह के उपाय खोज लेता है। युद्ध इसीलिए लड़े जाते हैं कि कहीं कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़प न लें। एक तरह से युद्ध की समस्या का समाधान करने के लिए ही युद्ध लड़े जाते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध इसलिये लड़ा गया था, ताकि युद्ध समाप्त हो जाएँ। युद्ध समाप्त हुआ भी, पर कुछ ही वर्षों में फिर दूसरा विश्व युद्ध लड़ा गया। उसके पीछे भी यही तर्क दिये गये। द्वितीय विश्वयुद्ध में कुछ और

अधिक आश्वस्त होने लायक स्थिति बनी, पर अब तीसरे विश्वयुद्ध की तैयारियाँ भीतर ही भीतर चल रही हैं।

यह वस्तु स्थिति का विश्लेषण मात्र है, निराशा उत्पन्न करने या मनोबल गिराने के लिए कही गई बात नहीं है। इस विश्लेषण से अच्छी तरह अनुभव किया जा सकता है कि समस्याओं के बाहरी समाधान कितने थोथे और कितने उथले हैं ? इन दिनों जो भौतिक प्रगति हुई है, उस पर प्रसन्नता व्यक्त की जा सकती है। जिस दिशा में हम बढ़ रहे हैं और सफलता पायी है, वह सराहनीय है। पर यह नहीं भुला दिया जाना चाहिए कि भौतिक उपलब्धियों का सदुपयोग कल्याणकारी हो। चाकू से फल भी छीले जा सकते हैं और किसी की हत्या भी की जा सकती है। सुई से कपड़ों की सिलाई भी होती है और चुभोने से दर्द भी होता है। यदि सामाजिक विग्रह का मूल कारण समझा जा सके तो उपलब्ध साधनों से ही स्थिति को बदला जा सकता है।

यहाँ हमें समझना होगा कि समाज की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं, व्यक्तियों का समूह ही समाज है। व्यक्ति जैसे होंगे, वैसा ही समाज बनेगा। वैयक्तिक समस्याएँ ही इकट्ठी होकर सामाजिक समस्याएँ बन जाती हैं। आज की परिस्थितियों में समाज और राष्ट्र एक ही बात है। किसी जमाने में वे दो भी थे, पर आज तो सामाजिक समस्याओं को राष्ट्रीय मानकर चलने में किसी को कोई बड़ी आपत्ति नहीं है। सामाजिक—राष्ट्रीय ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रस्तुत असंख्य समस्याओं का वर्गीकरण किया जाय तो उन्हें पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) जन स्वास्थ्य की समस्या (२) अपराध और युद्ध (३) आर्थिक असंतुलन—संपत्ति की कमी (४) बढ़ती हुई जनसंख्या (५) स्वार्थपरता और विकृत आग्रह। इन पाँचों के अंतर्गत उन समस्त समस्याओं को लिया जा सकता है, जो अनेक राष्ट्रों के सामने अनेक आकृति-प्रकृति की बनकर आती रहती हैं। इन्हीं को सुलझाने के लिए समाजसेवी, बुद्धिजीवी, राजनेता, वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री विभिन्न ढंगों से सोचते, विभिन्न उपाय खोजते और विभिन्न कदम उठाते देखे जाते हैं। कल्याणकारी एवं सुरक्षात्मक

योजनाओं का निर्धारण उन्हीं प्रयोजनों के लिए होता है। इन्हीं समाधानों के लिए अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्न होते और कूटनीतिक आदान-प्रदान चलते हैं। इतने पर भी देखा यही जाता है कि बात कुछ बन नहीं रही है और वांछित समाधान निकल नहीं रहे हैं।

कुछ समय पहले यह समझा जाता था कि समृद्धि बढ़ने से समाज की इन समस्याओं का हल निकल आयेगा, किंतु यह प्रयोग सुसंपन्न कहे जाने वाले देशों में हो चुका है। अमेरिका और योरोप के अनेक देश भौतिक प्रगति के हर क्षेत्र में पिछड़े देशों की तुलना में अत्यधिक ऊँचाई तक बढ़ गये हैं। पर वहाँ के लोगों की अशांत मनःस्थिति, बढ़ती हुई अपराधी-प्रवृत्ति तथा दूसरी सामाजिक विकृतियों को देखकर लगता है कि मात्र भौतिक उन्नति को सब कुछ मान बैठना भूल है। समुन्नत कहलाने वाले देशों में उन व्यक्तियों की संख्या दिन-दिन बढ़ रही है, जो थकान और तनाव की मनःस्थिति से निरंतर क्षुब्ध रहते हैं और नींद की गोली खाकर कुछ देर आधी-अधूरी नींद ले पाते हैं। स्वाभाविक स्नेह-सद्भाव घट जाने से संयुक्त परिवार प्रणाली के आनंद को गँवा बैठे हैं। अनिश्चित और अविश्वस्त दांपत्य जीवन को कृत्रिम आकर्षणों के सहारे मधुर बनाने के प्रयोग सर्वथा असफल हो रहे हैं और परिवार संस्था टूट रही है। रोज तलाक, रोज विवाह की विडंबना ने दांपत्य जीवन का आनंद ही नष्ट कर दिया। संतान और अभिभावकों के बीच स्नेह—श्रद्धा के सूत्र अत्यंत दुर्बल पड़ गये। पशु-पक्षियों में बच्चों और अभिभावकों का रिश्ता शिशु काल तक ही सीमित रहता है। समर्थ होते ही वह रिश्ता टूट जाता है। मनुष्य समाज में भी यही बात बढ़ रही है। विवाह का उद्देश्य काम-कौतुक बन रहा है। यह पशुता की ओर लौटना हुआ। फिर पशु-जीवन से बढ़कर पारिवारिक जीवन का आनंद भी कैसे मिलेगा ? भटके हुए मनुष्य, निष्ठारहित परिवार, आदर्शविहीन-समाज की दुर्गति ही होनी चाहिए। उसे हम तथाकथित समृद्ध देशों के आंतरिक खोखलेपन में झाँककर देख सकते हैं। यों वहाँ भी भौतिक प्रगति के नगाड़े बज रहे हैं और उपलब्धियों की गर्वोक्तियाँ की जा रही हैं।

यह तथ्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि मानवी सत्ता दो भागों में विभक्त है—एक भौतिक शरीर पक्ष है। दूसरा आत्मिक चेतना का। भौतिक निर्वाह के लिए सुविधा-साधन चाहिए और आत्मिक संतोष के लिए आदर्शवादी वातावरण। दोनों साधन जहाँ जुटेंगे, वहाँ सच्ची प्रगति मानी जा सकेगी और वहीं सुख-शांति की संभावना बढ़ेगी। यहाँ एक बात और भी समझ लेने की है कि चेतना मुख्य है और कलेवर गौण। आत्मिक प्रगति के हित स्वल्प साधनों में भी हँसते-हँसते ऋषि जीवन जिया जा सकता है, पर प्रचुर साधनों के होते हुए भी आंतरिक विकृतियाँ असुर स्तर के उद्वेग अनाचारों का सृजन करती रहेंगी।

संपत्ति एक प्रकार की आग है, जिसे अध्यात्म के चिमटे से ही पकड़ा जाना चाहिए। नंगे हाथ अंगार पकड़ लेने की चेष्टा में खतरा ही खतरा है। वासना-तृष्णा से, लोभ-मोह से, संकीर्ण स्वार्थपरता से घिरा हुआ व्यक्ति कितना ही साधन संपन्न क्यों न हो, अपनी उपलब्धियों का सदुपयोग न कर सकेगा। दुरुपयोग के दुष्परिणाम उसे पग-पग पर भुगतने पड़ेंगे। यही हो रहा है। हम अपनी प्रत्येक उलझन, समस्या, कठिनाई के पीछे उसी अनास्था को तांडव नृत्य करते देख सकते हैं।

राजतंत्र की समर्थ सत्ता के माध्यम से समाधान निकालने की बात भी इसी पृष्ठभूमि पर सोची जा सकती है। आज सर्वत्र शासनतंत्र में जनतांत्रिक पद्धति ही कार्य कर रही है। इस स्थिति में जनसाधारण में आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करके ही आदर्श शासन व्यवस्था की स्थापना संभव है। अपने मतदान का मूल्य और महत्त्व समझने वाले नागरिकों का चुना हुआ लोकतंत्र-रामराज्य की स्थापना करता है और उसी से सतयुगी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। अधिनायकवाद और राजतंत्र की बात दूसरी थी, पर प्रजातंत्र में तो प्रजा ही अपने शासन की व्यवस्था आप करती है। भ्रष्ट-प्रलोभनों और उद्देश्यों से प्रेरित होकर मतदान करने वाले वोटर ही वस्तुतः प्रजातंत्र की जड़ खोदते हैं और अवांछनीय शासनतंत्र खड़ा करने के लिए हावी होते हैं।

बात घूम-फिरकर वहीं आ जाती है कि उत्कृष्ट शासन का आधार विवेकवान नागरिकों के दृष्टिकोण पर निर्भर है। शासन का स्वरूप कितना ही शक्तिशाली हो, पर उसका संचालक नियुक्त करने का अधिकार तो मतदाताओं के हाथ में ही सुरक्षित रहता है। स्वस्थ प्रजातंत्र की स्थापना के लिए सर्वमान्य और सर्वोपरि उपाय एक ही है कि प्रजातंत्र के प्रयोजनों के उत्तरदायित्व का भान हो और उसका उपयोग करते समय राष्ट्र की इस पवित्र थाती का पवित्रतम उपयोग करने की बात को ध्यान में रखा जाए।

यह दृष्टि विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक कही जा सकती है। इसी बात को ऐसे भी कहते हैं कि स्वच्छ शासन की स्थापना उन प्रयोजनों के लिए ही संभव है, जिन्हें परिष्कृत दृष्टिकोण वाले "अध्यात्मवादी" की संज्ञा दी जा सकती है। शासनतंत्र द्वारा राष्ट्रव्यापी, विश्वव्यापी समस्याओं का स्थिर समाधान, इसी पर निर्भर है कि नागरिकों, सरकारों और मूर्धन्य नेतृत्व द्वारा अध्यात्मवादी आदर्शों को किस सीमा तक अपनाया गया है ?

गहराई से देखा जाय तो वे सामाजिक समस्याएँ स्वतंत्र रूप में कुछ नहीं, वैयक्तिक समस्याओं का ही सामूहिक रूप है। असंयम से व्यक्ति दुर्बल और रुग्ण होता है। उसी को सामूहिक रूप से बीमारी या हमारी अकाल मृत्यु की व्यापक समस्या कहा जा सकता है। मानसिक विकृतियाँ व्यक्तिगत जीवन में मनोविकारों और उद्वेगों के ग्रसित रहने एवं लड़ने-झगड़ने के लिए प्रेरित करती हैं। यही दुष्प्रवृत्ति सामूहिक जीवन में दंगों, उपद्रवों का रूप धारण करती है और अपराधी दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए भड़काती है। उपद्रवों और अपराधों की राष्ट्रीय समस्या को प्रकारांतर में व्यक्तियों की दुर्बुद्धि का सामूहिक अभिशाप कहा जा सकता है।

व्यक्ति की दरिद्रता ही देश की गरीबी और व्यक्तिगत अनैतिक धन की आकांक्षा—राष्ट्रीय अर्थ असंतुलन का आधार है। सुसंस्कारी आधार से भटके हुए परिवार कुत्साओं और कुंठाओं से घिरे रहते हैं। अविवेकपूर्वक बच्चों का अंधाधुंध उत्पादन राष्ट्रीय संकट बनकर खड़ा होता है। विकास के लिए जितने पैर पीटे जाते

हैं, उससे ज्यादा नये रोजी-रोटी तथा सुविधा मांगने वाले उत्पन्न हो जाते हैं। विकास की उपलब्धियाँ नई आवश्यकता पूरी करने में सफल नहीं हो पाती, फलतः समस्याएँ जहाँ की तहाँ अड़ी बैठी रहती हैं।

व्यक्तिवाद के आधार पर पनपने वाली स्वार्थपरता समूह रूप से असंगठित और सहकारिता की उपेक्षा करने वाले प्रयोजनों की समस्या बनती है। मुनाफाखोरी, कामचोरी, आपाधापी, सार्वजनिक प्रयोजनों की उपेक्षा, सहकारिता में अनुत्साह, वर्ग-स्वार्थ और संघर्ष जैसे आचरणों से ही कोई देश दुर्बल बनता है। इन्हीं को किसी राष्ट्र का आंतरिक खोखलापन कहा जा सकता है। व्यक्तिगत जीवन में आत्मिक दुर्बलता और सामूहिक जीवन में प्रयोजनों की उपेक्षा को चारित्रिक कमजोरी का नाम दिया जा सकता है। संक्षेप में व्यक्ति की छोटी दीखने वाली समस्याएँ ही सामूहिक रूप से विशालकाय राष्ट्रीय अथवा सामाजिक समस्याएँ कही जाती हैं। इन्हीं दुर्बलताओं से शिक्षा, संपत्ति आदि साधनों से संपन्न देश आंतरिक दृष्टि से दुर्बल बने रहते हैं। इसके विपरीत जिन देशों में आंतरिक दृढ़ता, भावनात्मक एकता, साहसिक प्रखरता तथा एक चरित्रनिष्ठा होती है, वे स्वल्प साधनों के सहारे अपना वर्चस्व सिद्ध करते हैं और न अंतर्द्वंद्वों में टूटते हैं और न बाहरी आक्रमणों से हारते हैं।

जिन सत्प्रवृत्तियों की यहाँ चर्चा की जा रही है, उनको समन्वय को सामाजिक प्रखरता अथवा सामूहिक आध्यात्मिकता कह सकते हैं। कर्त्तव्य पालन के लिए जागरूक, आदर्शों के प्रति निष्ठावान एवं उदार आत्मीयता से प्रेरित होकर सेवा-सहायता के लिए आतुर उत्साह को आध्यात्मिकता माना गया है। यही है वह दिव्य क्षमता—जिसे आत्मशक्ति कहते हैं। यही व्यक्ति को लौह पुरुष बनाती है, और उसी के सहारे राष्ट्रों की सुरक्षा लौह प्राचीरों से अधिक सुनिश्चित बनी रहती है। पूर्व वर्णित पाँचों सामाजिक समस्याओं के हल इसी माध्यम के निकल सकते हैं।

जन स्वास्थ्य—

राष्ट्रीय अस्वस्थता की समस्या का समाधान करने के लिए सफाई, कृमिनाश एवं अस्पतालों का प्रबंध किया जाता है। सरकार आर्थिक स्थिति के अनुरूप कर्मचारियों की संख्या नियत रखती है और सुविधा साधन जुटाती है। पर वे अस्पताल थोड़े-से ही बीमारों को भर्ती कर सकते हैं। जो इनसे लाभ उठाते हैं, उनकी तुलना में वे कहीं अधिक हैं, जिन्हें यातायात की तथा दूसरी कठिनाइयों के कारण वह सहायता नहीं मिल पाती। जो इनमें चिकित्सा कराते हैं, वे सभी अच्छे भी कहाँ हो पाते हैं ? जो अच्छे हो जाएँ, उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें उसी कष्ट की पुनरावृत्ति न होगी अथवा दूसरे नये रंग-रूप का रोग फिर न उठ खड़ा होगा।

यहाँ अस्पतालों की निरर्थकता नहीं बताई जा रही हैं, और न यह कहा जा रहा कि उन्हें न खोला जाय और न लाभ उठाया जाय। प्रतिपादन केवल इतना है कि यदि जन-साधारण ने अप्राकृतिक जीवन न छोड़ा—आहार-विहार का असंयम न सुधारा, तो उपचार केवल सामयिक चमत्कार उत्पन्न भले ही कर दें, स्वास्थ्य समस्या का स्थायी समाधान न निकलेगा। असंयमी लोग प्रकृति की अवज्ञा का दंड भुगतेंगे और आये दिन बीमार पड़ेंगे। नई बीमारी और नई दवा का कुचक्र अपनी धुरी पर यथावत् घूमता रहेगा। संकट टलेगा नहीं।

सफाई कर्मचारी एक ओर कचरा साफ करेंगे, दूसरी ओर वहाँ रहने वाले अथवा उधर से निकलने वाले फिर गंदगी बरसाने लगेंगे। हर आदमी के साथ एक मेहतर घूमे तो बात दूसरी है, अन्यथा गंदगी फैलाने की आदत सरकार की सफाई योजना को सफल न होने देगी। मक्खी, मच्छर आदि हानिकारक कीड़े गंदगी की उपज हैं। डी० डी० टी० से एक दिन जितने मच्छर मारे जायेंगे, दूसरे दिन सड़ी गंदगी उतने ही नये पैदा कर देगी।

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए जो उपाय किये जाते हैं, वे आवश्यक तो हैं पर पर्याप्त नहीं। होना यह चाहिए कि शिक्षा-संस्थाओं से लेकर

धर्मतंत्र सहित प्रचार के प्रत्येक साधन से लोकमानस को स्वच्छता, संयम, श्रम निष्ठा जैसी आरोग्यरक्षक आदतें सीखने के लिए प्रशिक्षित किया जाय। सामाजिक संगठन वैसा वातावरण बनाएँ, और बीमार पड़ना भी एक अपराध घोषित किया जाये। बार-बार बीमार पड़ने वालों को दया का पात्र और सहायता का अधिकारी तो माना जाय, पर साथ ही उनकी असावधानी और अव्यवस्थितता को कड़ाई से कसा भी जाए। जितने प्रयत्न गंदगी साफ करने के लिए किये जाते हैं, जितने प्रबंध चिकित्सा उपचार के होते हैं, उससे भी अधिक प्रयत्न इस स्तर के होने चाहिए कि हर मनुष्य स्वच्छता, संयम, श्रम निष्ठा जैसे आधारों का सिर्फ महत्त्व ही न समझे वरन् उन्हें जीवन नीति का अंग मानकर चले। यह कार्य कठिन कहा जा सकता है, पर उतना कठिन नहीं है, जितनी कि अस्वस्थता के कारण उत्पन्न होने वाली रुग्णताजन्य पीड़ा और आर्थिक हानि। समस्या के कारण को समझा जाय और उसका स्थिर समाधान ढूँढ़ा जाय, तो एकमात्र यही निष्कर्ष निकलेगा कि जीवनयापन की उस पद्धति को अपनाया जाय, जिसे शरीर क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली आध्यात्मिकता कहा जा सकता है। अध्यात्म एक मान्यता है, जो विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में परिलक्षित होती है। शरीर क्षेत्र में बरती जाने वाली सतर्कता और संयमशीलता अध्यात्म की प्रेरणा कही जायेगी। यही है वह आधार जिसे अपनाकर स्वास्थ्य-संकट से सदा-सर्वदा के लिए छुटकारा मिल सकता है।

अपराध और युद्ध—

मानसिक उद्वेगों से पीड़ित व्यक्ति उद्धत आचरण करते हैं, अपना स्तर गिराते हैं और दूसरों को कष्ट देते हैं। कभी-कभी मर्यादाओं के लिए अनास्थावान बनकर ऐसे लोग मानवी और सामाजिक शील-सदाचार को रौंदते हुए अपराधी बनते, गुंडागर्दी, अपनाते, आतंक उत्पन्न करते और चोरी-ठगी पर उतारू पाये जाते हैं। नृशंस, क्रूर कर्म करने में भी उन्हें संकोच नहीं होता। इस प्रकार के उद्धत आचरण रोकने के लिए पागलखाने, जेलखाने बनाये गये हैं और उन्हें रोकने-पकड़ने की व्यवस्था की गई है, पर देखना यह है कि क्या यह प्रतिबंधात्मक उपाय पर्याप्त हैं ? देखा यही जाता है

कि कड़े कानून, कठोर दंड और अपराध-सूत्रों की खोज-बीन की व्यवस्था रहते हुए भी वे दुष्प्रवृत्तियाँ रुक नहीं रही हैं। आत्महनन से लेकर परपीड़न तक के वर्गों में विभाजित होने वाले अपराध घट नहीं बढ़ ही रहे हैं। दंड भय से बच निकलने की असंख्य तदवीरें सोची और निकाली जाती रहती हैं और छिपे एवं खुले रूप में वह सब होता रहता है, जिसे रोकने के लिए खर्चीले एवं कुशलतापूर्वक उपाय बरते जाते हैं।

यहाँ भी दंड नीति एवं रोकथाम के प्रयत्नों का उपहास नहीं उड़ाया जा रहा है और न उन्हें अनावश्यक ठहराया जा रहा है। वे प्रयत्न तो होने ही चाहिए, वरन् उन्हें अधिक विस्तृत एवं प्रामाणिक किया जाना चाहिए। सोचने की बात इतनी भर है कि क्या मनुष्य की दुर्बुद्धि से उत्पन्न अनाचारों, दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने के लिए कानूनी पकड़ पर्याप्त है ? यह तभी हो सकता है, जब हर आदमी के पीछे पुलिसमैन लगाया जाए, और वह पुलिसमैन भी किसी अन्य लोक का निवासी हो।

अपराध मात्र उतने ही नहीं हैं, जितने न्यायसंहिता में दंडनीय ठहराये गये हैं। छोटे और व्यक्तिगत अपराधों पर कानूनी अंकुश नहीं है। नशा पीना, असंयम बरतना, अस्वच्छ रहना, अनुशासनहीनता, अस्त-व्यस्तता, आलस्य, प्रमाद, कटुभाषण, अशिष्ट-आचरण, दुर्व्यसन, द्वेष, दुर्भाव जैसी व्यक्तिगत अवांछनीयताओं पर सरकारी अंकुश नहीं है। पर वे आदतें व्यक्ति और समाज के लिए कम हानिकारक नहीं। अवांछनीयताएँ ही बढ़कर विक्षोभकारी विभीषिकाएँ उत्पन्न करती हैं। ऐसी ही छोटी-छोटी बातें व्यक्ति को गया-गुजरा बनाती और समाज को खोखला करती हैं। पागल की तोड़-फोड़ हमें चौंकाती है, पर सनकी एवं उद्धत प्रकृति के मनुष्य धीरे-धीरे कितनी विसंगतियों खड़ी कर देते हैं, उसे खोजा जाए तो और भी अधिक हानि हुई दृष्टिगोचर होगी।

अग्निकांड से शहतीर जल जाने की चर्चा होती है, पर घुन द्वारा उसे खोखली करके धराशायी बना देने को सामान्य कहकर टाल दिया जाता है। बड़े अपराधों की भयंकरता सर्वविदित है, किंतु छोटे अपराध

जिन्हें नैतिक एवं नागरिक मर्यादाओं का उल्लंघन कह सकते हैं, कम भयानक नहीं हैं। खेत को हिरन चर गये अथवा फसल को कीड़ों ने साफ कर दिया-विश्लेषण की दृष्टि से दो प्रसंग हो सकते हैं, पर हानि की दृष्टि से दोनों को ही समान रूप से हानिकारक ठहराया जायेगा। अवांछनीयता हो तो अपराधी दुष्प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति और समाज दोनों को असामान्य क्षति उठानी पड़ती है।

इनका नियंत्रण जन-साधारण का दृष्टिकोण बदलने से ही संभव होगा। आस्तिकता, आध्यात्मिकता, धार्मिकता की आस्थाएँ ही अंतःकरण को परिष्कृत करती हैं, और उन्हीं की प्रेरणा से मनुष्य सज्जनता अपनाने के लिए विवश होता है। सुसंस्कृत व्यक्ति पर न तो सामाजिक अंकुश की आवश्यकता पड़ती है और न सरकारी रोकथाम की। वह आंतरिक सदाशयता से प्रेरित रहता है और अपना स्तर ऊँचा उठाता है, और दूसरों को हानि पहुँचाना तो दूर उलटे लोग-मंगल के अनेक आधार खड़े करता है।

बढ़ती हुई अनैतिकता का विकसित रूप अपराधों की बाढ़ के रूप में देखा जा सकता है। इसे न संपन्नता रोक सकती है और न दंडनीति। अमेरिका की साधन-संपन्नता सर्वविदित है, फिर भी वहाँ अपराधों का ज्वार ऊपर उठ रहा है। दंडनीति में कमी कहाँ है ? हर अपराध के विरुद्ध कड़े कानून मौजूद हैं। फिर भी जेलखानों के भीतर तक अपराध होते रहते हैं। सामयिक उपचार जो हो रहे हैं, वे उत्साहपूर्वक काम में लाये जाएँ, पर साथ ही यह आवश्यकता भी समझी जाय कि मानवीय अंतःकरण को सुसंस्कृत बनाने के लिए समस्त साधन झोंक दिए जाएँ। चिकित्सा पर होने वाले खर्च की तुलना में अन्न, वस्त्र का खर्च स्वभावतः अधिक होता है। अपराधों की रोकथाम और अपराधियों को दंड देने पर जितना ध्यान दिया और खर्च किया जाता है, उससे कम नहीं अधिक ही प्रयत्न सभ्यता एवं संस्कृति को हृदयंगम कराने के लिए होने चाहिए। इस प्रयत्न को पुराने शब्दों में आध्यात्मिकता का प्रसार कहा जायेगा। वस्तुतः यही वह आधार है, जिसके सहारे हर व्यक्ति को 'पुलिसमैन' बनाया जा सकता है। स्वयं आदर्शवाद अपनाने वाले

ही दूसरों को सही नागरिक बनकर रहने के लिए विवश कर सकते हैं। अपनी छाप छोड़कर वे संपर्क क्षेत्र को शालीनता से भरापूरा बना सकते हैं। ऐसी दशा में न तो दुष्प्रवृत्ति के पनपने की आशंका रहेगी और न उनकी रोकथाम के लिए उतना खर्चीला ढाँचा खड़ा रखने की आवश्यकता पड़ेगी।

अपराधी दुष्प्रवृत्तियों और हेय अवांछनीयताओं का स्थायी उन्मूलन करने के लिए अध्यात्म की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा करना न तो असंभव है और न कठिन। वातावरण में व्यक्तित्वों का अंतरंग और बहिरंग ढाँचा-ढालने की पूरी क्षमता है। समाज के मूर्धन्य व्यक्ति यदि इसकी आवश्यकता अनुभव कर सकें; तो बुद्धिजीवी, अर्थशास्त्री, साहित्य-सृजेता, धर्माध्यक्ष, शासनाधिकारी एवं कलाकार व प्रतिभाशाली विभूतियों के संयुक्त प्रयास से ऐसा वातावरण सहज ही बन सकता है, जिसमें जन-साधारण को उत्कृष्ट चिंतन एवं आदर्श कर्त्तृत्व अपनाने की ही इच्छा उत्पन्न हो और वैसे ही कदम उठें।

मानवी चिंतन यदि मोड़ा जा सके तो भय, आशंका और अविश्वास के कारण पनपने वाली हिंसा और प्रतिहिंसा की जड़ें कट जायेंगी। आये दिन जो दंगे-फसाद, वर्ग-संघर्ष, क्षेत्रीय युद्ध और विश्व-युद्ध के बादल घुमड़ते रहते हैं, उनका दर्शन भी न होगा। घृणा के स्थान पर आत्मीयता, द्वेष के स्थान पर प्रेम, शोषण के स्थान पर सहयोग की स्थापना की जा सकती है। ऐसा हो सके तो आंतरिक सुव्यवस्था और सीमा-सुरक्षा के लिए समस्त संसार में जितनी धन-शक्ति खर्च करनी पड़ रही है; उसे शिक्षा, सिंचाई जैसे उपयोगी कार्यों में लगाया जा सकता है। तब अपनी दुनिया में एक भी आदमी अशिक्षित, एक भी बुभुक्षित, एक भी रुग्ण और एक भी उद्विग्न दिखाई न पड़ेगा। परस्पर घात-प्रतिघात में लगी हुई शक्ति को यदि सृजन सहयोग में लगा सकें तो उसका दोहरा लाभ होगा। ध्वंस के दुष्परिणामों से छुटकारा मिलेगा और सृजन की सुखद संभावनाएँ बढ़ेंगी।

छोटे-से परिवार में सभी लोग मिल-जुलकर स्नेह- सद्भावपूर्वक गुजारा कर लेते हैं। उसमें बाल-वृद्ध, समर्थ-असमर्थ,

विकसित-अविकसित सभी स्तर के लोग रहते हैं, पर किसी को एक-दूसरे से भय नहीं रहता। एक-दूसरे के प्रति संदेह-अविश्वास नहीं करते, दुर्भाव नहीं रखते और दुलार-सहयोग में कमी नहीं देखते। पारस्परिक सद्‌भाव-संपन्नता से घर के हर सदस्य को अपने-अपने ढंग का आनंद और संतोष मिलता है। सभी एक-दूसरे से लाभ उठाते हैं, और उस मिली-जुली उदार सहकारिता से पूरा परिवार सुदृढ़ एवं सुविकसित बनता चला जाता है। सुसंस्कृत परिवारों में कई प्रकार की कठिनाइयाँ रहते हुए भी स्वर्गीय वातावरण बना रहता है। उसके सदस्यों को व्यक्तिगत उत्कर्ष का लाभ मिलता है और उन घटकों का सम्मिलित रूप समूचे समाज को समुन्नत बनाने में अप्रत्यक्ष किंतु असाधारण योगदान करता है। विचारणीय यह है कि मानवी स्वभाव में सहकारिता कूट-कूट कर भरी होने पर भी वह लाभ समाज को क्यों नहीं मिलता, जो सुसंस्कृत परिवारों को मिलता है ? आज समाज के सम्मुख सर्वग्रासी विभीषिकाएँ क्यों प्रस्तुत हैं ? यह प्रश्न भी कम गंभीर और कम विचारणीय नहीं है।

यदि हम तथ्यों की ओर से आँखें फेर न लें, तो यह समझा जा सकता है कि हमारे द्वारा विकृत दृष्टिकोण तथा निकृष्ट रीति-नीति अपनाई गई। फलतः अगणित कठिनाइयों की घटा घिर आई। यह समझ लिया जाय तो उसी निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि प्रस्तुत कष्टकारक उलझनों को सुलझाने के लिए हमारा क्रिया-कलाप बदलना चाहिए। यह परिवर्तन उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्त्तृत्व के उसी समन्वय से संभव है, जिसे तत्त्वविज्ञानियों ने अध्यात्मवाद का नाम दिया है और जिसे बोलचाल की भाषा में आदर्शवाद कहा जा सकता है। मनुष्य को मानवतावादी होना चाहिए। उसे व्यक्तिवादी आपाधापी से विमुख होकर समूहवादी रीति-नीति अपनानी चाहिए। इसी को शास्त्रीय शब्दों में अध्यात्मवाद और राजनैतिक शब्दों में समाजवाद कह सकते हैं। अच्छा है इस तत्त्व दर्शन का नामकरण मानवतावाद किया जाय।

ज्ञान-विज्ञान और उद्योग की दिशा में गगनचुंबी प्रगति हो रही है। उसके लिए मूर्धन्य लोग जी तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। इन

प्रयासों का प्रतिफल भी सामने है। भौतिक प्रगति को एक वरदान कहने में किसी को कोई संकोच नहीं हो सकता, किंतु इतना ही तो सब कुछ नहीं है। आवश्यकता उस सद्‍भावना और दूरदर्शिता की भी है, जिसके सहारे इन उपलब्धियों का सदुपयोग किया जा सके। यही वह मर्म-स्थल है, जहाँ हम चूकते, भटकते और गिरते हैं। फलतः वह वहाँ पहुँचा देगी, जहाँ से सर्वनाश के, महाकाल के कराल दाँतों में पिस जाने और सभ्यता की उपलब्धियों को गँवा बैठने के अतिरिक्त और कुछ हाथ में न रह जायेगा। समझदारी की माँग है कि समय रहते रोग की भयंकरता को समझा जाय और निदान विश्लेषण के सहारे कारणों को ढूँढ़ निकाला जाए।

कोई कारण नहीं कि मनुष्य मिल-जुल कर न रह सके। ऐसी कोई समस्या नहीं, जिसका हल न्याय और औचित्य को अपनाकर विवेकपूर्वक न खोजा जा सके। देश और देश का लड़ना आवश्यक नहीं। मनुष्य का मनुष्यों से, वर्गों का वर्गों से झगड़ना, मात्र बढ़ी हुई दुर्बुद्धि के कारण ही होता है। इस पर अंकुश लग सकता है। विवेक और सृजन की शक्तियों मिल-जुलकर विध्वंसकारियों को मात दे सकती हैं। असुरता इतनी प्रबल नहीं है कि वह देवत्व को सर्वदा के लिए हरा सके। सद्‍भावना के समर्थक बिखरे रहते हैं। यदि एकजुट होकर एकत्व का प्रसार और सृजन का विस्तार करने के लिए कटिबद्ध हो जाएँ; तो मनुष्य जाति का भविष्य उज्ज्वल बनाने वाली विश्वशांति की संभावनाएँ कल्पना न रहकर, कल ही सुनिश्चित यथार्थता बन सकेंगी। तब इसे अध्यात्मवाद की विजय कहा जा सकेगा।

अर्थ संतुलन—

विश्वव्यापी अर्थसंकट वास्तविक नहीं, पूर्णतया कृत्रिम है। धरती माता की उर्वरता इतनी न्यून नहीं है कि अपनी संतानों का भरण-पोषण न कर सके। कुछ लोगों ने संपत्ति के उपार्जन के साधनों को अपने कब्जे में कर रखा है, फलतः सर्वसाधारण को उनसे वंचित रहना पड़ रहा है। अपने देश में भूदान की, भूमि वितरण की दिशा में जो कदम बढ़ाये जा रहे हैं, वे ही सार्वभौम बन सकते हैं। अमेरिका,

अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि विशालकाय भूखंडों में खाली जमीनें पड़ी हैं और उस पर थोड़े लोगों का आधिपत्य है। यदि मनुष्य-मनुष्य के बीच भाईचारा हो और प्रकृति-संपदा पर उसके सभी पुत्रों का अधिकार स्वीकार कर लिया जाए, तो उस भूमि से संसार की समस्त आबादी को लाभ मिल सकता है। धनाधीशों के हाथ में रुकी हुई पूँजी यदि सार्वजनिक उद्योगों में लग सके तो उससे संसार के हर आदमी को रोजी-रोटी मिल सकती है। जो बुद्धि एवं पूँजी व्यक्तिगत स्वार्थ साधनों में, सुखोपभोग में लगी है, उसको यदि लोकमंगल के लिए नियोजित किया जा सके तो संसार में अज्ञान और दारिद्रय के टिके रहने का कोई कारण ही शेष न रहे।

क्या ऐसा नहीं हो सकता ? निश्चित रूप से हो सकता है। व्यक्तिवादी स्वार्थपरता की असुरता से यदि संगठित देवत्व लड़ पड़े और आधिपत्य की आपाधापी आत्मीयता के विराट् विस्तार में लग सके, हर व्यक्ति अपने को समाज का अविच्छिन्न घटक मानकर सर्वहित में अपना हित अनुभव करने लगे तो उसका चिंतन एवं कर्त्तृत्व लोकमंगल में लगेगा। साधनों को बाँटकर जो आनंद पाया जाता है वह कितना बहुमूल्य है, इसे आज तो समझ पाना कठिन हो रहा है। किंतु यदि वह व्यवहार में आने लगे तो उसके सुखद परिणामों को देखकर हम अपनी ही दुनिया की स्वर्गलोक से तुलना करने लगेंगे।

यह कार्य तब तक अति कठिन बना रहेगा, जब तक इसे कूटनीति एवं अर्थनीति के सहारे हल कर लेने की बात सोची जाती रहेगी। प्रयत्न राजनैतिक भी होते रहें, और चेष्टा आर्थिक विकास की भी चलती रहे, पर स्थिर समाधान मात्र अध्यात्मवाद की प्रतिष्ठापना में देखा जाय। मानवी सत्ता जड़ नहीं, चेतन है। चेतन को चेतना ही उठाती-गिराती है। यदि हमारी आस्थाएँ उपभोग की लिप्सा पर अटकी रहें, तो धन-संपदा पर एकाधिकार की, असीम उपभोग और उद्धत अपव्यय की प्रकृति बनी रहेगी। इससे कुछ लोगों की अमीरी रह सकती है, कुछ की मनमानी चल सकती है, पर सार्वजनीन अर्थ संकट का अंत न हो सकेगा। उपार्जन वितरण

और उपभोग पर यदि अध्यात्मवादी अंकुश रखा जा सके, तो ही हम सब दरिद्रता के अभिशाप से स्थायी मुक्ति पा सकते हैं।

जनसंख्या वृद्धि—

बढ़ती हुई जनसंख्या की विश्वव्यापी समस्या के दो पहलू हैं—(१) बढ़ी हुई जनसंख्या की समुचित व्यवस्था तथा (२) परिवार नियोजन द्वारा जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण। इस समस्या के उचित समाधान न खोजे जा सकें, तो असंतुलन और विक्षोभ चरमसीमा तक पहुँच जायेंगे। ऐसी स्थिति में उसके संतुलन के लिए किसी महायुद्ध अथवा किसी प्राकृतिक प्रकोप द्वारा नर-संहार ही एकमात्र हल हो सकता है, जिसकी कल्पना तक से हृदय कांपने लगता है।

उपर्युक्त समस्या के उपयुक्त हल में आध्यात्मिक प्रक्रिया हर दृष्टि से समर्थ है। संसार के विस्तृत भूखंडों और प्राकृतिक संपदा का उपयोग विवेक सम्मत ढंग से किया जा सके, तो वर्तमान जनसंख्या की समुचित व्यवस्था कोई बड़ी बात नहीं है। किंतु इसमें विकसित, मानसिक स्थिति और उदार अंतःकरण जैसे आध्यात्मिक गुणों का अभाव ही एकमात्र रुकावट है।

जनसंख्या की वृद्धि के लिए विभिन्न ढंग खोजे और अपनाये जाएँ। यह ठीक है, किंतु उसके पीछे सन्निहित मूल मान्यताएँ भी बदलनी चाहिए। आजकल सर्वत्र इस मान्यता का बोलबाला है कि अपना अर्थात् अपने रक्त से पैदा होने वाली ही अपनी संतान है और अपने संतान ही काम आते हैं, औरों के नहीं। ऐसी मान्यता-भावना के रहते, संकीर्ण अपनत्व के विस्तार और अपने अधिकारों—स्वत्वों की रक्षा के लिए प्रजनन की आवश्यकता अनुभव की ही जाती रहेगी। किंतु यदि आध्यात्मिक स्तर पर अपनत्व की अनुभूति की जा सके, तो मनुष्य मात्र क्या प्राणिमात्र अपने परिवार के रूप में दिखने लगता है। फिर किसी अभाव की पूर्ति अथवा भय-आशंका के निवारण के लिए अपनों की संख्या बढ़ाने के प्रयास में निरर्थक प्रजनन सहज ही बंद हो जावेगा। जो

कार्य ढेरों शक्ति लगाकर भी असंभव दिखता है, वही आध्यात्मिक दृष्टिकोण विकसित करके सहज ही पूरा किया जा सकता है।

व्यक्तिवादी आपाधापी जितनी बढ़ेगी, उतनी ही विषमता बढ़ेगी। एक ओर खड्डे होंगे दूसरी ओर टीले। टीले आकर्षक हो सकते हैं, खड्डों की भयंकरता आतंकित कर सकती है। उपयोगिता तो समतल भूमि की है, उसी में फसल बोई-उगाई जा सकती है और उसी में फल-फूलों से लदे हुए बगीचे लहलहा सकते हैं। अमीरी की चकाचौंध हतप्रभ हो सकती है। गरीबी देखकर आँखें बरस सकती हैं, पर इससे अवांछनीयता में तो कोई अंतर नहीं आता। हमारे प्रयास समतल भूमि बनाने के लिए होने चाहिए। मानव समाज की प्रगति एकता-समता के आधार पर ही संभव है, अन्यथा एक ओर अहंकार अट्टहास कर रहा होगा, दूसरी ओर पिछड़ेपन के सींखचे में कसी हुई अधिकांश जनता चीत्कार करती हुई मरती-खपती चली जायेगी।

बिलगाव के कारण उत्पन्न होने वाले विग्रहों को यदि समझा जा सके, तो बुद्धिमत्ता इसी में प्रतीत होगी कि संसार को एक परिवार बनाया जाए और हर मनुष्य को उसका सदस्य होने का गौरव अनुभव करने दिया जाए। हममें से हर व्यक्ति अपने को विश्व नागरिक माने, समस्त संसार को अपना घर और समस्त मनुष्य जाति को एक परिवार के अंतर्गत समेटें, तो वह दिन आ सकता है, जिसमें हम सब देवजीवन का आनंद लेते हुए मानवता को धन्य बना रहे हों और सुख-शांति के सुनहरे स्वप्नों को साकार होते हुए देख रहे हों।

बिलगाव ने धर्मक्षेत्र में अनेकानेक संप्रदाय, मत-मतांतर खड़े किये हैं। क्या यह पृथकता आवश्यक है ? यदि एक सूर्य से संसार भर को प्रकाश मिल सकता है; तो फिर एक धर्म समस्त मानव जाति के लिए पर्याप्त क्यों नहीं होना चाहिए ? सभी धर्म अपने को ईश्वरकृत कहते हैं, और ईश्वर एक है। ऐसी दशा में एक विश्वधर्म अथवा मानवधर्म होने में किसी को क्या आपत्ति होनी चाहिए। सभी धर्मों में सारतत्त्व है, उस सार की एकता अपना लेने में कोई पूर्वाग्रह-पक्षपात क्यों बाधक होना चाहिए ? प्रथा-परंपराएँ तो समयानुसार सदा से

बदलती रही हैं और वे कभी स्थिर न रह सकेंगी। परिस्थितियाँ बदलने के साथ-साथ प्रथा-परंपराओं में परिवर्तन होते रहे हैं और होते रहेंगे। आज की परिस्थितियों के अनुरूप आचार-संहिता और प्रक्रिया बनाई जा सकती है और धर्म की आत्मा को शाश्वत-सनातन रूप में ही शिरोधार्य किया जा सकता है। ऐसा धर्म सार्वजनीन होगा और सार्वभौम बनेगा। भारतीय धर्म का निर्माण इसी आदर्श के अनुरूप हुआ। उसमें मानव-धर्म कहलाने की, विश्व-धर्म के रूप में स्वीकार किये जाने की परिपूर्ण पात्रता विद्यमान है। समय ने, विवेक ने, न्याय ने—यदि वही कुछ परिवर्तन चाहा, तो उसे स्वीकार करने में भी हिचक की आवश्यकता नहीं है।

विश्व की एक मानव-भाषा हो तो वे दीवारें सहज ही टूट जायेंगी, जिसने एक क्षेत्र के मनुष्यों को दूसरे क्षेत्र वालों के साथ विचार-विनिमय करने पर प्रतिबंध लगा दिया है। भाषा की भिन्नता के कारण दो क्षेत्रों के निवासी गूँगे-बहरे की तरह मात्र इशारों से ही थोड़ा-बहुत काम चला सकते हैं। मद्रासी और बंगाली में, मराठी और पंजाबी के बीच भाषा की दीवार मुँह पर पट्‌टी बाँधने जैसी रोक लगा देती है। अफ्रीकी और रूसी अपनी-अपनी भाषा में एक-दूसरे से बात करने लगें, तो वह उच्चारण निरर्थक ही सिद्ध होगा। दुभाषियों के सहारे काम चलते हैं अथवा किसी जानी पहचानी भाषा का सहारा लेना पड़ता है। यदि यह बाधा न रहे, सर्वत्र एक भाषा बोली जाने लगे, तो सामान्य लोक-व्यवहार का वार्तालाप ही नहीं—गंभीर ज्ञान-विज्ञान का आदान-प्रदान भी अति सरल हो सकता है। एक लिपि में लिखी जाने वाली एक विश्व-भाषा यदि बन सके तो प्रेस और प्रकाशन उद्योग में आशातीत क्रांति हो सकती है। फिर क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद प्रकाशन की कठिनाई, महत्त्वपूर्ण विचारधारा का एक सीमित क्षेत्र में अवरुद्ध रहने का व्यवधान सहज ही मिट सकता है और देखते-देखते मानवी ज्ञान की परिधि गगनचुंबी हो सकती है।

बिलगाव-बिखराव—

छुट-पुट पृथक्-पृथक् राष्ट्रों की सत्ता एक विश्व-राष्ट्र में विलीन हो सकती है। जिस प्रकार एक देश के कई प्रांत, कई जिले होते हैं·

उसी प्रकार एक विश्व-राष्ट्र के अंतर्गत समस्त देश बने रहें और उनकी सीमा रेखाएँ भौगोलिक आधार पर नये सिरे से निर्धारित कर ली जाएँ, तो उसमें किसका क्या हर्ज होगा ? विश्व राष्ट्र की फौज ही सर्वत्र सुरक्षा व्यवस्था की उत्तरदायी होगी और देश-विदेशों के बीच आये दिन होते रहने वाले युद्धों के लिए कहीं कोई कारण शेष नहीं रहेगा। भूमि पर, प्रकृति-संपदा पर किसी क्षेत्र के निवासी, अपना अधिकार न रख सकेंगे। तब ऐसी दशा में किसी क्षेत्र को अमीरी, किसी को गरीबी, किसी को अपच से, किसी को भुखमरी से मरना नहीं पड़ेगा। जलमार्ग, थलमार्ग, नभमार्ग से सर्वत्र सबको जाने की सुविधा हो। जनसंख्या की सुविधा-साधनों के अनुरूप बसावट कर दी जाए। खनिज तथा दूसरे प्रकृति-साधनों का उपयोग सभी लोगों के लिए सुलभ बनाया जाए। हर किसी को श्रम करना पड़े और हर किसी को उत्पादन में हिस्सा मिले तो फिर विषमता कहीं रहेगी ही नहीं। तब विद्वेष और विद्रोह के कारण ही बचे नहीं रहेंगे। युद्ध कौन करेगा ? आज की सर्वनाशी युद्ध विभीषिका में अणु-अस्त्रों का समावेश हो जाने से मानवी अस्तित्व के लिए संकट खड़ा हो गया है। इनकी सामयिक रोकथाम जिस किसी भी उपाय से संभव हो, की जानी चाहिए। पर इस तथ्य को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि अंतिम विश्व-शांति की स्थापना, युद्धों की पूर्णतया समाप्ति 'विश्वराष्ट्र' का निर्माण होने से ही संभव होगी।

एक धर्म, एक संस्कृति, एक भाषा, एक राष्ट्र की आवश्यकता पर जितनी गंभीरता से विचार किया जायेगा उतनी ही उसकी उपयोगिता सिद्ध होती चली जायेगी। यह अध्यात्म का प्रतिपादन है। अद्वैत-सिद्धांत में सर्वत्र एक ही आत्मा का अस्तित्व माना गया है। सबमें एक ही आलोक के प्रतिबिंब जगमगा रहे हैं। हम सब मणि-माणिकों की तरह पृथक् होते हुए भी एक सूत्र में बँधे हुए हैं। हम सब एक हैं। एक एकात्मक भाव ही आत्मविकास की स्थापना है। सीमित अहंता को क्षुद्रता का चिह्न माना गया है। बिलगाव की, संकीर्ण-स्वार्थपरता की अध्यात्म तत्त्वज्ञान ने पग-पग पर भर्त्सना की है और उसके असीम दुष्परिणामों का विस्तारपूर्वक दिग्दर्शन

कराया गया है। संकीर्णता के सीमाबंधन ही असंख्य समस्याएँ उत्पन्न करते हैं। उसी के कारण मानवी गरिमा का ह्रास होता है और अनेकानेक संकट खड़े होते हैं। स्नेह-सौजन्य की, एकता और समानता की नीति अपनाई जा सके, तो वर्तमान साधनों से ही अपने संसार में, अपने युग में, सुख-संपदा का बाहुल्य और आनंद का सर्वत्र हर्षोल्लास बिखरता देखा जा सकता है।

कमी साधनों की नहीं, समस्या-संकटों की नहीं, कठिनाई एक ही है कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण की उपेक्षा की गई और उसका उपहास बनाया गया। यों अभी भी अध्यात्म की चर्चा खूब होती है, और उसके नाम पर आडंबर भी बहुत बनते हैं, पर उस रीति-नीति को व्यावहारिक जीवन में उतारने का प्रयास नहीं किया जाता। अध्यात्म को व्याख्याओं से धूमिल कर दिया गया है, फलतः वह भ्रांतियों का केंद्र बनकर रह गया है। आवश्यकता इस बात की भी है कि अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप से जन साधारण को परिचित कराया जाए।

यह तथ्य हममें प्रत्येक को हृदयंगम करना चाहिए कि उत्कृष्ट चिंतन के आधार पर परिष्कृत व्यक्तित्व बनाने वाले दृष्टिकोण का नाम अध्यात्म का तत्त्वदर्शन है। आदर्शवादी गतिविधियों को कार्यान्वित करने की प्रखर कार्य पद्धति को, वैयक्तिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली उदात्त कर्त्तव्यपरायणता को अध्यात्म का व्यावहारिक पक्ष कह सकते हैं। यही वह आधार है, जिसे अपनाकर व्यक्ति और समाज की समस्त समस्याओं का हल पाया जा सकता है और समूची मानव जाति को स्थायी सुख-शांति से लाभान्वित किया जा सकता है।

कहा जा चुका है कि संसार के सामने विशालकाय समस्याएँ अपराध, युद्ध, अभाव, अशिक्षा एवं स्वास्थ्य आदि की हैं। इन्हें परिस्थितिवश उत्पन्न हुआ माना जाता है, जबकि वे विकृत मनःस्थिति की उपज है। सुधार उद्गम केंद्र का किया जाना चाहिए। समस्याओं की जड़ काटी जानी चाहिए। मानवी-मस्तिष्क यदि दुर्बुद्धिग्रस्त रहेगा और दुष्प्रवृत्तियों से हमारी कार्यपद्धति मिलेगी, तो उनकी प्रतिक्रिया असंख्य समस्याओं के रूप में उसी प्रकार बनी रहेगी, जैसी कि आज

है। बाह्य उपचारों से क्षणिक सहायता तो मिल सकती है पर विग्रहों का स्थायी समाधान नहीं निकल सकेगा। युद्ध समाप्त करने की दुहाई देकर प्रथम विश्व युद्ध लड़ा गया था, उसके समाप्त होते-होते दूसरा विश्वयुद्ध लड़ा गया, उसका नारा भी यही था। उसके समाप्त होते-होते तीसरे महायुद्ध की तैयारियाँ जोरों से चल पड़ी हैं। कहा जा रहा है कि उसके बाद युद्ध न होंगे। यह कथन वर्ट्रंडरसल के शब्दों में इस आशय का हो सकता है कि तीसरे युद्ध के बाद जो मनुष्य बचे रहेंगे, वे शस्त्रों से युद्ध लड़ सकने की स्थिति में ही नहीं रहेंगे। चौथा युद्ध लड़ना पड़ा तो ईंट-पत्थर फेंक कर ही लड़ा जा सकेगा।

यह बात निराशा उत्पन्न करने और मनोबल गिराने के लिए नहीं कही गई है। यह तो वस्तुस्थिति का विश्लेषण मात्र है। प्रगति पर प्रसन्नता व्यक्त करने की बात है। हम जिस दिशा में बढ़े हैं, उसकी सराहना कौन नहीं करेगा ? इस बात में दो राय नहीं हो सकतीं कि भौतिक-साधनों को बढ़ाने में हम जुटे हैं, और उसमें आशाजनक सफलता पाई है। पर यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि साधनों के बढ़ने के साथ-साथ उनके सदुपयोग का उत्तरदायित्व भी बढ़ता है। भौतिक प्रगति के समानांतर आत्मिक प्रगति भी होनी चाहिए, अन्यथा उपभोग का संकट उत्पादन की उपलब्धियों को लाभदायक होने के स्थान पर और भी अधिक हानिकारक बना देगा।

सामाजिक सुख-शांति की धुरी भी आध्यात्मिकता ही है। उसे कहने-सुनने की विडंबना बनाकर नहीं रखा जाना चाहिए, वरन् व्यावहारिक जीवन में उतारा जाना चाहिए। अध्यात्म कथा पुराणों के द्वारा सिखाया ही जाना चाहिए, पर उसे सुनने-सुनाने की फलश्रुति में सीमाबद्ध नहीं किया जाना चाहिए। आज तो श्रवण और पठन तक ही अध्यात्मवादी आदर्शों का माहात्म्य मान लिया गया है, कथा सुनने और सुनाने भर से लोग स्वर्ग जाने की उपहासास्पद आशा करते हैं, जबकि वह प्रशिक्षण विशुद्ध रूप से व्यावहारिक जीवन की रीति-नीति में समाविष्ट किए जाने के लिए ही विनिर्मित हुआ है। उसका मर्म समझे बिना, तत्त्व अपनाये बिना ही आध्यात्मिकता की दुहाइयाँ देने से कोई और लाभ नहीं निकल सकता। ऐसा करने वाले से तो उस ओर

से लोगों को अरुचि हो जाती है, अध्यात्म को उसके सही स्वरूप में समझा-समझाया जाना चाहिए। यदि ऐसे हो सके तो हर क्षेत्र में इस ऋषि प्रणीत पद्धति का लाभ उठाया जाना संभव है।

वस्तुएँ अथवा भौतिक उपलब्धियाँ तभी लाभदायक होती हैं, जबकि उनके समानांतर आत्मिक प्रगति के प्रयास भी किये गये होंगे। यह कला अध्यात्मवाद के द्वारा ही सीखी जा सकती है और उसी आधार पर समस्त समस्याओं का हल किया जा सकता है। हमारी आस्थाएँ बदलें, उनमें उत्कृष्टता का अधिकाधिक समावेश हो और उनका प्रतिफल व्यक्तित्व के स्तर में होती हुई वृद्धि के रूप में दिखाई दे, तो मनुष्य में देवत्व का उदय हो सकता है और धरती पर स्वर्ग अवतरित हो सकता है।

व्यक्तिगत सुख-संतुष्टि की तरह सामाजिक सुख-शांति का आधार भी आध्यात्मिकता है, उसे कहने-सुनने की विडंबना बनाकर नहीं रखना चाहिए, वरन् व्यावहारिक जीवन में उतारा जाना चाहिए। आज तो उस विषय में कुछ सुनकर अथवा पढ़कर ही आध्यात्मिक दायित्वों को पूरा हुआ मान लिया जाता है, जबकि उसका लाभ उठाने के लिए उसे जीवन में समुचित स्थान दिया जाना चाहिए। यदि यह तथ्य समझ लिया जाए, अध्यात्म का सही रूप समझने-समझाने एवं व्यवहार में लाने का क्रम चल पड़े तो व्यक्तिगत उलझनों एवं सामाजिक समस्याओं के स्थायी समाधान पाये जा सकते हैं।

विज्ञान के विकास से लेकर अर्थ साधन बढ़ाने तक के अनेकानेक प्रयत्न समस्याओं के समाधान के लिए चल रहे हैं, यह सब उचित है और यह चलते भी रहें, पर हमारे ध्यान में यह तथ्य बना ही रहना चाहिए कि अध्यात्म का आश्रय लिए बिना न तो व्यक्तिगत उलझनें सुलझेंगी और न सामूहिक समस्याओं का समाधान निकलेगा। यदि प्रगति और शांति की वस्तुतः आवश्यकता और आकांक्षा हो तो यह तथ्य समय रहते स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि अध्यात्मवाद के प्रकाश से ही समस्त समस्याओं को हल किया जा सकता है और उसे जीवन में प्रसन्नतापूर्वक, तत्परतापूर्वक अपनाया जाना चाहिए।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)